मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 69 ● वर्ष 8, अंक 4 ● जून 2018 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

मौजूदा आर्थिक संकट और मार्क्स की 'पूँजी' 7

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली 13

सच और झूठ का झगड़ा 15

भारत में लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई

जनता की बर्बादी की क़ीमत पर हो रहा "विकास" !

सम्पादक मण्डल

मोदी सरकार के मन्त्री और उसका भोंपू मीडिया लगातार देश के बढ़ते विकास का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। हालाँकि उनके विकास के आँकड़ों के फ़र्ज़ीवाड़े का कई बार पर्दाफ़ाश हो चुका है और विभिन्न रिपोर्टें यह बता रही हैं कि अर्थव्यवस्था गहरे संकट में है। रोज़गार पैदा नहीं हो रहे हैं, पहले से मौजूद नियमित रोज़गार में लगातार कटौतियाँ जारी है, चौतरफ़ा महँगाई ने आम लोगों का जीना दूभर कर दिया है, खेती के संकट की सबसे बुरी मार ग्रामीण मज़दूरों और ग़रीब किसानों पर पड़ रही है और शहरी ग़रीबों और निम्न-मध्य वर्ग की विशाल आबादी बेहद मुश्किल से गुज़ारा कर रही है।

मगर इस संकट के कीचड़ में भी अमीरों के कमल खिलते ही जा रहे हैं। केवल पिछले वर्ष के दौरान देश में 17 नये "खरबपति" और पैदा हुए जिससे भारत में खरबपतियों की संख्या शतक पूरा कर 101 तक पहुँच गयी। ऑक्सफ़ैम की रिपोर्ट के अनुसार - **पिछले वर्ष देश में पैदा हुई कुल सम्पदा का 73 प्रतिशत देश के सबसे अमीर एक प्रतिशत लोगों की मुट्ठी में चला गया।** इस छोटे-से समूह की सम्पत्ति में पिछले चन्द वर्षों के दौरान 20.9 लाख करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी हुई जो 2017 के केन्द्रीय बजट में ख़र्च के कुल अनुमान के लगभग बराबर है। दूसरी ओर, देश के 67 करोड़ नागरिकों, यानी सबसे ग़रीब आधी आबादी की सम्पदा सिर्फ़ एक प्रतिशत बढ़ी। देश के खरबपतियों की सम्पत्ति में 4891 खरब रुपये का इज़ाफ़ा हुआ है। यह इतनी बड़ी रक़म है जिससे देश के सभी राज्यों के शिक्षा और स्वास्थ्य बजट का 85 प्रतिशत पूरा हो जायेगा। आमदनी में असमानता किस हद तक है इसका अनुमान सिर्फ़ इस उदाहरण से लगाया जा सकता है कि **भारत की किसी बड़ी गारमेण्ट कम्पनी में सबसे ऊपर के किसी अधिकारी की एक साल की कमाई के बराबर कमाने में ग्रामीण भारत में न्यूनतम मज़दूरी पाने वाले एक मज़दूर को 941 साल लग जायेंगे। दूसरी ओर वह मज़दूर अगर 50 वर्ष काम करे, तो भी उसकी जीवन-भर की कमाई के बराबर कमाने में गारमेण्ट कम्पनी के उस शीर्षस्थ अधिकारी को सिर्फ़ साढ़े सत्रह दिन लगेंगे।**

ज़ाहिर है, यह असमानता मोदी राज में ही नहीं बढ़ी है। आज़ादी के बाद से अपनायी गयी पूँजीवादी विकास की नीतियों ने इसे लगातार बढ़ाया है। नरेन्द्र मोदी ने पिछली सरकारों के दौरान बढ़ती रही इस असमानता और उससे पैदा होने वाले असन्तोष का लाभ उठाया था। हज़ारों करोड़ रुपये ख़र्च करके किये गये अन्धाधुन्ध प्रचार के दौरान लोगों को "अच्छे दिनों" के सपने परोसकर वोट बटोरे गये थे लेकिन सत्ता में आते ही सारे वादे खोखले जुमलों में बदल गये। पिछले चार साल के मोदी राज में आर्थिक असमानता और भी भयंकर हो चुकी है। ऐसे में, हर ओर से उठते सवालों को धार्मिक जुनून और अन्धराष्ट्रवाद के शोर में दबा देने के अलावा भाजपा और संघ परिवार के पास कोई जवाब नहीं है। **"सबका साथ सबका विकास" एक फूहड़ मज़ाक के अलावा कुछ नहीं है। वास्तव में विकास सिर्फ़ पूँजीपतियों की छोटी-सी जमात और उनकी चाकर सबसे ऊपर की मुट्ठीभर आबादी का हो रहा है।**

भारत की सरकारों ने पिछले क़रीब ढाई दशकों के दौरान देश के बाज़ार को वैश्विक बाज़ार के लिए ज़्यादा से ज़्यादा खुला बनाया है, और पूँजी के खुले प्रवाह के लिए उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू किया है। इन नीतियों को लागू करने के लिए और "व्यापार करना आसान बनाने" के लिए, श्रम क़ानूनों को लचीला बनाने के नाम पर मज़दूरों के सभी अधिकारों

(पेज 8 पर जारी)

तेल की लगातार बढ़ती क़ीमत : वैश्विक आर्थिक संकट और मोदी सरकार की पूँजीपरस्त नीतियों का नतीजा

- अमित

मई के महीने में तेल की क़ीमत में लगातार 16 दिनों तक वृद्धि हुई, और नतीजतन पेट्रोल और डीज़ल की क़ीमत अपने रिकॉर्ड स्तर पर पहुँच गयी और 2014 के बाद अपने सबसे ऊँचे स्तर पर पहुँच गया। दिल्ली में पेट्रोल 78 रुपये प्रति लीटर और डीज़ल 69 रुपये प्रति लीटर से ज़्यादा पहुँच गया। इस बढ़ोतरी को मोदी-परस्त मीडिया ने इस तरह दिखाया कि यह पूर्णतः वाजिब था और मोदी सरकार तेल की बढ़ती क़ीमतों के ज़रिये भी देश का 'विकास' कर रही है। परन्तु इस बात में सच्चाई नहीं है। निश्चित ही तेल की बढ़ती क़ीमतों के पीछे अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में जारी कशमकश है। अप्रैल 24 को ब्रेण्ट क्रूड, कच्चे तेल की क़िस्म, जो वैश्विक तेल क़ीमतों को निर्धारित करने का मापदण्ड है, की क़ीमत 75 डॉलर प्रति बैरल तक पहुँच गयी थी। यह 2014 के बाद से अपने उच्चतम स्तर पर पहुँच गया और कच्चे तेल की क़ीमतों के उछाल का दौर फिर से लौटने के संकेत दे रहा है। ब्रेण्ट क्रूड की मौजूदा प्रति बैरल क़ीमत में 10 महीने पहले की न्यूनतम क़ीमत से 30 डॉलर प्रति बैरल या 66 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कच्चे तेल की क़ीमत में हुई इस वृद्धि का कारण तेल की वैश्विक आपूर्ति में कमी है। इस आपूर्ति में कमी का कारण वैश्विक भू-राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव रहा है। वैश्विक आर्थिक संकट के कारण साम्राज्यवादी देशों के तीखे होते अन्तरविरोध और आपसी सिरफुटव्वल की कई अभिव्यक्तियों में से एक तेल की क़ीमतों में हुई वृद्धि भी है। सऊदी अरब और रूस और दूसरे तेल उत्पादक देशों से बाज़ार में तेल की आपूर्ति की कमी और वेनेज़ुएला द्वारा कच्चे तेल की आपूर्ति में कमी और ट्रम्प का ईरान को परमाणु समझौता रद्द कर फिर से प्रतिबन्ध लगाने की धमकी देना, अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत में हुई वृद्धि का मुख्य कारण रहा है। इन कारणों ने भारत में तेल की क़ीमतों पर कितना असर डाला है, यह देखने के लिए भारत की तेल सम्बन्धी नीतियों पर नज़र डालना होगा। भारत एक प्रमुख तेल आयत करने वाला देश है, लेकिन साथ ही पेट्रोल और डीज़ल पर सबसे ज़्यादा टैक्स लगाने वाले देशों में से भी एक है। ख़ासकर पिछले 4 साल से मोदी सरकार के 'अच्छे दिन' वाले शासन के दौरान पेट्रोल और डीज़ल पर एक्साइज़ और कस्टम ड्यूटी में भारी वृद्धि हुई है, जिसका नतीजा यह रहा है कि 2014 में अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत में भारी कमी होने पर भी भारत की जनता को उसका लाभ नहीं मिला। टैक्स में हुई इस वृद्धि को मोदी और इनके अन्धभक्त बहुत कुतर्क के साथ सही बता रहे हैं। उनका कहना है कि इस कर-वृद्धि का इस्तेमाल आधारभूत अधिरचना के

(पेज 9 पर जारी)

आपस की बात

राजस्थान में बिजली विभाग में बढ़ता निजीकरण, एक ठेका कर्मचारी की ज़ुबानी

केन्द्र सरकार की तर्ज पर राजस्थान सरकार ने भी सरकारी पद समाप्त करने शुरू कर दिये हैं। राजे सरकार ने बिजली विभाग में क़रीब 20000 पदों को रिस्ट्रक्चरिंग के तहत समाप्त कर दिया है। ग़ौरतलब है कि सरकार पिछले दो वर्षों की क्रमिक अवधि में पीपीपी मॉडल के तहत बिजली विभाग के छोटे-बड़े सभी बिजली सब-स्टेशनों को निजी हाथों में सौंपने का काम पहले ही पूरा कर चुकी है। हालाँकि निजीकरण का काम तो काफ़ी पहले कांग्रेस के समय से ही शुरू हो चुका था, लेकिन इसकी रफ़्तार बढ़ाने का काम सरकार ने वर्ष 2015 से शुरू किया। ग़ौरतलब है कि 2015 के बाद से विभाग में टेक्निकल स्टाफ़ की भर्तियाँ नहीं की गयी हैं। रिक्त पड़े तकनीकी पदों को भरने की बजाय विभिन्न प्रकार के तकनीकी कामों का क्रमिक प्रक्रिया में ठेकाकरण कर दिया गया है। यह ठेकाकरण कितनी तीव्र गति से किया गया है, इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि जहाँ 2015 में ठेके पर काम करने वाले बिजलीकर्मियों और स्थायी बिजलीकर्मियों का अनुपात क्रमशः 1:5 था, वहीं वर्ष 2018 तक यह 2:3 हो गया है। इस सबके पीछे जो कारण बताया गया है, वह यह है कि बिजली विभाग लगातार घाटे में जा रहा है सो उसको PPP (पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) मॉडल के तहत निजी हाथों में सौंपने के सिवा कोई चारा नहीं! बावजूद इस पार्टनरशिप के यह घाटा कम होने का नाम नहीं ले रहा है। जबकि बिजली बिलों का न्यूनतम चार्ज बढ़ा दिया गया है तथा उक्त 3 सालों में ठेके पर कार्यरत कामगारों का श्रम ज़बरदस्त रूप में निचोड़ा गया है। ठेके पर कार्यरत कामगारों के शोषण की स्थिति का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 7 व्यक्तियों के काम को मात्र 3 व्यक्तियों से करवाया जा रहा है, कहीं-कहीं तो इसके लिए 2 ही व्यक्ति नियुक्त किये गये हैं। कोढ़ पर खाज यह कि स्थायी कर्मचारियों को जहाँ अधिक वेतन-भत्ते और सुविधाएँ देनी होती थीं, वहीं ठेके पर कार्यरत इन कामगारों को मात्र 5-6 हज़ार रुपये महीना ही दिया जा रहा है। इन थोड़े से रुपयों की ख़ातिर वे बग़ैर किसी सुरक्षा इन्तज़ामों के बिजली के ख़तरनाक कामों को करते रहने को मजबूर हैं। हर दिन औसतन 3 कामगार करण्ट लगने की वजह से अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं। यहाँ हम भयंकर रूप से बढ़ती बेरोज़गारी का सहज ही अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

निजीकरण का यह सिलसिला सिर्फ़ बिजली तक सीमित नहीं है, सभी विभागों की यही गति है। सरकारी नीतियों और राजनीति के प्रति आँख मूँदकर महज कम्पीटीशन एक्ज़ाम की तैयारियों में लगे बेरोज़गार युवकों को ऐसे में ठहरकर सोचना-विचारना चाहिए कि जब सरकारी नौकरियाँ रहेंगी ही नहीं तो बेवजह उनकी तैयारियों में अपना पैसा और समय ख़र्च करने का क्या तुक बनता है? क्या उन्हें नौकरी की तैयारी के साथ-साथ नौकरियाँ बचाने के बारे में सोचना नहीं चाहिए? बिजली विभाग में भर्ती होने के लिए भारी फ़ीस देकर आईटीआई कर रहे लाखों नौजवानों को तो सरकार के इस फ़ैसले का त्वरित विरोध शुरू कर देना चाहिए।

बिजली विभाग का एक ठेका मज़दूर,
अलवर, राजस्थान

मज़दूर बिगुल अख़बार को घर-घर पहुँचाने की ज़रूरत है

सम्पादक महोदय मेरा नाम राहुल है। मैं हरियाणा के चिड़ी गाँव का रहने वाला हूँ तथा बिगुल अखबार के कुछ ही अंक मैंने फ़िलहाल तक पढ़े हैं। मुझे बिगुल अखबार बहुत पसन्द आया। इसमें मुझे मेहनतकश लोगों मज़दूर-किसानों के जीवन से जुड़ी ख़बरें पढने को मिली जोकि अन्य अख़बारों में नहीं मिलती। मज़दूर बिगुल के माध्यम से मैंने लेनिन के जीवन के बारे में जाना और मुझे इनसे प्रेरणा मिली। देश दुनिया के मज़दूर आन्दोलनों, आर्थिक व्यवस्था, सरकारों की चालबाजियों को मैंने बिगुल अखबार के माध्यम से जाना। मेरा सुझाव है कि मज़दूर बिगुल में चित्र भी होने चाहियें। चित्र होते तो हैं किन्तु कम होते हैं। आम तौर पर कम पढ़े-लिखे मज़दूर लोगों को चित्र आकर्षित करते हैं। साथ ही मुश्किल शब्दों के साथ कोशिश करके आसान शब्द भी दिये जायें ताकि बिलकुल कम पढ़े-लिखे लोग भी इसे और भी आसानी से समझ सकें तथा जान सकें कि पूँजीपति उनका शोषण कैसे करते हैं और इससे कैसे छुटकारा पाया जाये। इससे इसका प्रचार ज़्यादा बढ़ेगा और फ़िर इसे पाक्षिक और साप्ताहिक भी किया जा सकता है। मैं अपने मज़दूर भाइयों से कहना चाहूँगा इसे घर-घर तक पहुँचाएँ। अपने रिश्तेदार, दोस्त, पड़ोसी हरेक को इससे परिचित कराएँ। यह हमारा अपना अखबार है। इसे आगे बढ़ाना हम सबकी ज़िम्मेदारी है। धन्यवाद।

– राहुल, चिड़ी,
जिला रोहतक, हरियाणा

''बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।'' **- लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ
सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

एनआरएचएम के निविदा कर्मियों का संघर्ष

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद देश में आम जनता के हितों को ध्यान में रखकर बनायी जाने वाली कल्याणकारी नीतियों का कल्याण कर दिया गया। इन नीतियों की सबसे ज़्यादा मार झेलने वाले विभागों में से एक स्वास्थ्य विभाग भी है। देश की स्वास्थ्य सुविधाओं को इन नीतियों ने वेण्टिलेटर पर पहुँचा दिया है। लम्बे समय से यह माँग उठायी जाती रही है कि कुल जीडीपी का कम से कम 10% स्वास्थ्य पर ख़र्च किया जाना चाहिए। लेकिन स्थिति यह है कि हर साल चिकित्सा के बजट में कुछ न कुछ कटौती ही हो जाती है। ग्रामीण भारत के सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों (सीएचसी) पर लगभग 80% चिकित्सकों के पद ख़ाली पड़े हैं और उनमें भी सबसे बुरी स्थिति उत्तर प्रदेश और बिहार के सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों की है। मानक के हिसाब से बुनियादी सुविधाएँ आपको बिरले ही किसी सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र पर देखने को मिलेंगी। शहरों में भी अस्पतालों में डॉक्टरों के सामने 200-250 मरीजों की क़तारें तो आम बात हो गयी हैं। देश-भर में डॉक्टरों के 2 लाख से ज़्यादा पद ख़ाली हैं।

आज जब केन्द्र में बैठी मोदी सरकार बेरहमी से डण्डा बरसाकर चिकित्सा, शिक्षा जैसी चीज़ों को भी छीनने में लगी हुई है तो देश के बहुत से बुद्धिजीवियों को कांग्रेस सरकार का कल्याणकारी समय याद आ रहा है। लेकिन वास्तव में इन नीतियों को अमल में लाने की प्रक्रिया और आज के समय में मोदी द्वारा और बर्बर तरीक़े से लूट सकने की ज़मीन वास्तव में कांग्रेस ने ही तैयार कर दी थी। विभागों में पदों को ख़ाली छोड़ देना, समाप्त कर देना, नयी भर्तियों की बजाय संविदा और ठेके के कामों को बढ़ावा देना इन नीतियों के लागू होने के बाद से आम नियम के तौर पर सामने आया है।

2005 में केन्द्र में बैठी कांग्रेस सरकार ने एक और 'जनकल्याणकारी' कार्यक्रम की शुरुआत की। सरकारी शब्दावली में "राज्य सरकारों को लचीला वित्त पोषण उपलब्ध कराकर ग्रामीण और शहरी स्वास्थ्य क्षेत्र को पुनर्जीवित करने का सरकार का स्वास्थ्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्यक्रम" राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम) शुरू किया। वास्तव में लच्छेदार शब्दों का यह जाल उन नीतियों पर पर्दा डालने के लिए इस्तेमाल किया गया था जिनकी वजह से स्वास्थ्य सेवाएँ आम जनता की पहुँच से और दूर होती जा रही हैं। बाद में राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य मिशन को इसके साथ जोड़कर इन सेवाओं को (राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन) के अधीन कर दिया गया। इस बात को आसानी से समझा जा सकता है कि देश में स्वास्थ्य सेवाओं के बुनियादी ढाँचे पर बजट बढ़ाकर उनकी स्थिति सुधारने की बजाय ऐसे कार्यक्रमों की लफ़्फ़ाज़ी की असली सच्चाई यह है कि देश की समूची स्वास्थ्य व्यवस्था को ही ठेके पर सौंप दिया जाये।

इस कार्यक्रम के व्यवस्था सम्बन्धी कामों के लिए बहुत से कर्मचारियों को संविदा पर रखा गया। एनएचएम के संविदाकर्मी पिछले लम्बे समय से अपने अधिकारों के लिए आन्दोलनरत हैं। कर्मचारियों की माँग रही है कि अगर उनको उस काम के लिए वही वेतन दिया जाना चाहिए, जो उस काम को करने वाले नियमित प्रकृति के कर्मचारियों को मिलता है। इसके साथ ही साथ कर्मचारियों को मिलने वाली अन्य सुविधाएँ भी संविदा पर काम करने वाले कर्मचारियों को मिलनी चाहिए। इसी दौरान पिछली 16 मई को उत्तर प्रदेश सरकार ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के अनुबन्ध समाप्त होने की बात कहकर 18 लोगों को एक झटके में काम से बाहर कर दिया। 23 मई से प्रदेश-भर में एनएचएम के संविदाकर्मियों ने 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन संविदा कर्मचारी संघ' के बैनर तले अपनी पुरानी माँगों और इन कर्मचारियों के समर्थन में आन्दोलन की शुरुआत करते हुए प्रदेश-भर में कार्य बहिष्कार कर दिया। एनआरएचएम की शुरुआत के बाद से ही उसमें अपनी सेवाएँ दे रहे थे। अचानक इनको काम से निकाले जाने के बाद इन कर्मचारियों के सामने जीविका का संकट खड़ा हो गया। 25 मई को आन्दोलन के दबाव में वार्ता के बाद सरकार ने एक कमेटी बनायी जिसके बाद संविदाकर्मियों ने दोबारा काम शुरू किया। लेकिन अभी भी 16 कर्मचारियों के निलम्बन का मामला कोर्ट में ही है।

आज के समय में परिवहन, बिजली, बैंक, रेलवे, स्वास्थ्य समेत हर विभाग में, संविदा और नियमित प्रकृति के काम करने वाले कर्मचारी अपनी माँगों को लेकर संघर्ष कर रहे हैं। इन सभी आन्दोलनों की असली लड़ाई उदारीकरण-निजीकरण की उन नीतियों के ख़िलाफ़ हैं जो इन कर्मचारियों की इन सुविधाओं में कटौती के लिए ज़िम्मेदार हैं। लेकिन ऐसे आन्दोलनों में अधिकांश का नेतृत्व उन संशोधनवादियों के हाथों में है जो इन आन्दोलनों को इन नीतियों के ख़िलाफ़ व्यापक संघर्ष की ओर बढ़ाने की बजाय वेतन-भत्ते की लड़ाई की चकरघिन्नी में घुमाते रहते हैं। वास्तव में एनएचएम के कर्मचारियों का यह संघर्ष एक सही दिशा में आगे तभी बढ़ सकता है, जब इन आन्दोलनों को और व्यापक बनाया जाये और इन लड़ाइयों को उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के ख़िलाफ़ एक बड़े आन्दोलन की तरफ़ ले चला जाये।

– अमित, इलाहाबाद

मनरेगा मज़दूरों ने चुना संघर्ष का रास्ता

पिछले दिनों हरियाणा के फ़तेहाबाद ज़िले के सिधानी गाँव में मनरेगा मज़दूरों ने अपने हक़-अधिकारों के संघर्ष की शुरुआत की। संघर्ष का मुद्दा गाँव के तालाब की सफ़ाई के कार्य में कम मज़दूरी व नियम की अनदेखी का था। असल में एक तरफ़ तो सरकार नियम बनाती है कि हाथों से मैला उठवाना ग़ैर-क़ानूनी है, परन्तु दूसरी तरफ़ उसी क़ानून की धज्जियाँ उड़ाकर सरकारी अधिकारी ही मनरेगा मज़दूरों से गाँव के गन्दे पानी के तालाब में से जलखम्भी निकालने का कार्य करवा रहे हैं। काम के दौरान न तो मज़दूरों को सुरक्षा-उपकरण दिये गये और न ही कोई अन्य सुविधा। मज़दूरों ने 10-15 फ़ीट गहरे तालाब में अपनी जान जोखिम में डालकर जलखुम्भी निकालने का कार्य किया। कार्य के दौरान अनेकों मज़दूरों के पैरों में काँच चुभा तो अनेकों मज़दूर गन्दे पानी की वजह से एलर्जी का शिकार हुए। ये सब देखते हुए भी प्रशासन की आँखें बन्द रहीं। असल में देश में मज़दूरों के सारे श्रम क़ानून सिर्फ़ मोटी-मोटी काग़ज़ों की किताबों में दर्ज हैं।

तालाब में सफ़ाई का कार्य मज़दूरों ने 6 मई से 18 मई तक किया। मेटों (मज़दूरों द्वारा चयनित व्यक्ति) द्वारा इस काम को 1000 दिहाड़ियों में करने को कहा, फिर अगले ही दिन मेटों द्वारा अपनी जुबान से मुकरते हुए इसी काम को 1200 दिहाड़ियों में काम करने को कहा गया, परन्तु बात यहाँ भी रुकी। और 8 मई को उसी काम को 1400 दिहाड़ियों में तय किया गया। साथ ही तालाब सफ़ाई के कार्य पर लगे कई मज़दूरों को अतिरिक्त कार्य पर लगा दिया। तालाब से जलखुम्भी निकालने के साथ ही उसको ट्रैक्टर-ट्रालियों में भरने का अतिरिक्त काम भी मज़दूरों से लिया गया। इस दौरान मज़दूरों से दो दिनों का अतिरिक्त काम लिया गया, लेकिन इसको तय दिहाड़ियों में शामिल नहीं किया गया। 18 मई को मेटों द्वारा

मज़दूरों को पास के मैदान में इकट्ठा किया गया तथा ऐलान किया गया कि मज़दूरी की दर 281 प्रतिदिन के हिसाब से मज़दूरी मिलेगी। लेकिन जलकुम्भी निकालने का कार्य 1475 दिहाड़ी में होना था, वो पूरे 2300 दिहाड़ी में पूरा हुआ। ऐसे में मज़दूरों ने 2300 दिहाड़ी के भुगतान की माँग उठायी, लेकिन मनरेगा अधिकारियों द्वारा सिर्फ़ 1475 ही दिहाड़ी का भुगतान किया जा रहा है। मज़दूरों ने 24 मई को एडीसी फ़तेहाबाद में अपनी मज़दूरी के भुगतान के लिए ज्ञापन सौंपा लेकिन एक हफ़्ते बाद तक भी कोई कार्रवाई ना होतो देख, मज़दूरों ने संघर्ष का रास्ता अपनाया।

बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों की मदद से मज़दूरों ने गाँव में जनसभा बुला, बीडीपीओ कार्यालय पर धरने का फ़ैसला लिया। साथ ही संघर्ष को आगे चलाने के लिए एक पाँच सदस्यीय कमेटी का चुनाव किया है। 4-5 जून को बीडीपीओ कार्यालय पर मज़दूरों ने अनिश्चितकालीन धरना दिया। इस दो दिवसीय धरने के दौरान मनरेगा अधिकारी छुट्टी और ट्रेनिंग का बहाना बनाकर ऑफ़िस से ग़ायब रहे। लेकिन मज़दूरों के धरने के लगातार दबाव में बीडीपीओ ने गाँवों का दौरा करने पर सहमति जतायी। 6 जून को मनरेगा मज़दूरों ने गाँव की रविदास चौपाल पर जनसभा का आयोजन किया। लगभग 1 बजे बीडीपीओ अपने अन्य अधिकारियों के साथ गाँव पहुँचे। बीडीपीओ के समक्ष नौजवान भारत सभा के रिंकू ने मज़दूरों के अतिरिक्त 825 दिहाड़ियों के भुगतान की माँग रखी। बीडीपीओ ने आश्वासन दिया कि पैमाइश को दोबारा सख्त प्रावधान करके मज़दूरी का भुगतान बढ़े रेट से किया जायेगा। ये मनरेगा के मज़दूरों की आंशिक जीत थी। अधिकारियों के जाने के बाद मज़दूरों ने जनसभा में फ़ैसला लिया कि यदि मामले पर जल्दी कार्यवाही नहीं की गयी तो वह संघर्ष को और तेज़ करने का रास्ता चुनेंगे। साथ ही मनरेगा मज़दूरों ने यह भी फ़ैसला किया कि वो अपने हक़-अधिकारों की सुरक्षा के लिए मनरेगा मज़दूर यूनियन का निर्माण करेंगे।

बिगुल मज़दूर दस्ता के अजय सिधानी ने कहा कि इस पूरे मामले से पता चलता है कि किस तरह मज़दूरों का शोषण किया जा रहा है। पहले तो उनसे हाड़तोड़ काम लिया जाता है तथा जब बात पूरी मज़दूरी देने की आती है, तो प्रशासन द्वारा पैर पीछे हटा लिये जाते हैं। कई मज़दूरों को एक साल 6 महीने हुए काम का वेतन भी नहीं मिला है। नीचे से लेकर ऊपर तक मनरेगा ऑफ़िस में भ्रष्टाचार है। यूँ तो मनरेगा क़ानून के तहत 100 दिन काम की योजना है, लेकिन असल में ना तो मज़दूरों को सौ दिन काम मिलता है और ना ही पूरी मेहनत का हिसाब मिलता है। क़ानून की किताबों में नये-नये क़ानून तो बनते हैं, किन्तु व्यवहार में कोई भी लागू नहीं होता। मेहनतकश वर्ग हर जगह शोषण का शिकार है। साथ ही डिजिटल इण्डिया के नाम पर मज़दूरों की दिहाड़ी मोबाइलों में डाली जाती है। अब सवाल यह है कि मज़दूर अपना काम करें या फिर सिम कार्ड से अपने पैसे निकलवाने इधर-उधर भटकेगा। दूसरे मोदी सरकार के आने के बाद से मनरेगा में नये-नये बदलाव कर दिये गये हैं, जिनके बारे में मज़दूरों या यूनियन से बिना सलाह वेतन का भुगतान कार्यदिवस की जगह कार्य की पैमाइश के अनुसार किया जा रहा है। इस बदलाव से कई जगह ऐसा हुआ, जहाँ मज़दूरों ने 8 घण्टे काम किया, लेकिन पैमाइश के अनुसार उनको भुगतान 150 रुपये ही मिले, जबकि हरियाणा में मनरेगा मज़दूरी कार्यदिवस के अनुसार 281 रुपये है।

असल सरकारी दावों की बात करें तो मनरेगा क़ानून 2005 कहता है कि इसका मक़सद है ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी बेरोज़गारी को कम करना। यानी क़ानून के तहत 1 वर्ष में एक परिवार के वयस्क सदस्यों को 100 दिन के रोज़गार की गारण्टी दी जायेगी। रोज़गार के पंजीकरण के 15 दिन के भीतर काम देने और काम ना देने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता देने की बात कही गयी है। मनरेगा के तहत न्यूनतम मज़दूरी भी अलग-अलग राज्यों के हिसाब से तय की गयी। हरियाणा में अभी फ़िलहाल 281 रुपये तय की गयी है। साथ ही मनरेगा के बजट की रक़म भारी-भरकम होती है, जैसे 2017-18 में मनरेगा के लिए 48 हज़ार करोड़ दिये गये। लेकिन इसकी ज़्यादातर रक़म और योजना में ख़र्च कर दी जाती है, वैसे भी पूरे देश में मनरेगा के तहत साल में सिर्फ़ 46 दिन औसत काम मिलता है। काग़ज़ों पर ज़रूर ये योजना ग्रामीण मज़दूरों के लिए कल्याणकारी लगती है, लेकिन असल मक़सद है गाँव से आबादी का पालयन रोकना। क्योंकि खेती में लगातार मशीनीकरण के कारण गाँव की ग़रीब आबादी में तेज़ी से बेरोज़गारी फैल है, ऐसे में कोई भी सरकार शहरी बेरोज़गारों की संख्या में इससे ज़्यादा बढ़ोत्तरी सहन नहीं कर सकती। इसलिए ऐसी योजना से गाँव से आने वाले सम्भावित प्रवासी को अर्ध-भुखमरी (यानी सौ दिन के रोज़गार के साथ) की हालत में अभी कुछ और समय तक गाँव में ही रोके रखा जाये। ऐसे में गाँव-देहात की मज़दूर आबादी के बीच पूरे साल के पक्के रोज़गार के लिए संघर्ष की शुरुआत की जा सकती है।

गुरुदास सिधानी

हरियाणा में नगर परिषद, नगर निगम, नगर पालिका के कर्मचारियों की हड़ताल समाप्त

सबक क्या निकला

ज्ञात हो हरियाणा की नगरपालिकाओं-नगरनिगमों और नगरपरिषदों में क़रीबन 30-32 हज़ार कर्मचारी पिछले दिनों हड़ताल पर थे। कर्मचारियों की हड़ताल अपने 16वें दिन सरकार के साथ हुए समझोते के बाद समाप्त हो गयी। हड़ताल पर गये कर्मचारियों में पक्के कर्मचारियों की संख्या बेहद कम है ज़्यादातर कच्चे, डीसी रेट पर, ऐड हॉक पर तथा ठेके पर हैं। ये कर्मचारी विभिन्न प्रकार के कामों को सम्हालते हैं। इनमें विभिन्न तरह के कर्मचारी हैं जैसे सफ़ाईकर्मी, माली, लिपिक, बेलदार, चौकीदार, चपड़ासी, अग्निशमन सम्हालने वाले, स्वास्थ्यकर्मी, इलैक्ट्रिशियन, ऑपरेटर इत्यादि। कर्मचारी ज़्यादा कुछ नहीं माँग रहे थे उनकी माँग बस यही है कि हरियाणा की भाजपा सरकार ने अपने चुनावी घोषणा पत्र में कर्मचारियों के लिए जो वायदे किये थे उन्हें वह पूरे कर दे।

भाजपा एक तरफ़ स्वदेशी का राग अलापती नहीं थकती दूसरी और सफ़ाई तक का ठेका विदेशी कम्पनियों को दे रही है। ये कम्पनियाँ देसी ठेकेदारों से सांठ-गाँठ करके न केवल कर्मचारियों का मनमाना शोषण करती हैं बल्कि नागरिकों से भी मनमाने पैसे ऐंठती हैं। स्मार्ट सिटी विकसित करने का कार्यक्रम भी पूरी तरह से हर चीज़ को बिकाऊ माल में तब्दील करने का कार्यक्रम है। हरियाणा के नगरपालिका, नगरपरिषदों और नगरनिगमों के तहत यानी प्रदेश के 80 शहरों और 6,754 गाँवों में क़रीबन 25 हज़ार सफ़ाई कर्मचारी काम करते हैं। हरियाणा की ढाई करोड़ आबादी के लिहाज़ से आबादी के अनुपात में 62 हज़ार सफ़ाई कर्मचारी होने चाहिए। सरकार के स्वच्छ भारत अभियान के ढोंग की असलियत यहीं पर जनता के सामने आ जाती है। साफ़-सुथरी जगह पर झाड़ू लेकर फ़ोटो खिंचा लेना एक बात है और हर रोज़ गन्दगी, बदबू, सड़ान्ध से जूझ रहे कर्मचारियों को मूलभूत सुविधाएँ देना दूसरी बात है। बिना दस्तानों, मास्क, बूट, सुरक्षा उपकरणों के चलते कितने ही कर्मचारी बीमारी का शिकार होते हैं तथा बिना पर्याप्त सुरक्षा उपकरणों के कितने ही जहरीली गैस के कारण अपनी जान से ही हाथ धो बैठते हैं।

हड़ताल का नेतृत्व नगरपालिका कर्मचारी संघ, हरियाणा ने किया था जोकि जोकि सर्व कर्मचारी संघ, हरियाणा से सम्बन्ध रखता है। 16 दिन की हड़ताल का कुल परिणाम यह निकला की कर्मचारियों की तनख्वाह 11,700 से बढ़ाकर 13,500 कर दी गयी है। पक्का करने की माँग, ठेका प्रथा ख़त्म करने की माँग और समान काम का समान वेतन देनें की माँग पर सरकार ने वही पुराना कमेटी बैठने का झुनझुना कर्मचारी नेताओं को थमा दिया जिसे लेकर वे अपने-अपने घर आ गये। इस चीज़ में कोई दोराय नहीं है कि फ़िलहाली तौर पर मिल रहे संघर्षों के हासिल को अपने पास रख लिया जाये और आगे के संघर्षों की तैयारी की जाये। किन्तु फ़िलहाल और लम्बे समय से देश सहित हरियाणा प्रदेश में भी मज़दूर-कर्मचारी आन्दोलनों में अर्थवाद पूरी तरह से हावी है। रोहतक हड़ताल स्थल पर जब बिगुल संवाददता ने अपनी बात में विस्तार से पूँजीवाद, मज़दूरी की व्यवस्था, इसकी ऐतिहासक नियति पर बात साझा की तो अगले दिन पर्याप्त समय होने और श्रोताओं में बात सुनने के प्रति उत्सुकता होने के बावजूद भी मंच संचालक महोदय ने उनसे कहा कि मुद्दे से जुड़ी बात ही कीजियेगा!

कहना नहीं होगा कि संशोधनवादी पार्टियों की घुसपैठ कर्मचारी यूनियनों और संगठनों में हावी है जो आन्दोलनों के जुझारू तेवरों को दीमक की तरह चाट जाती है। दुवन्नी-चवन्नी बढ़वाने की लड़ाई से संघर्ष आगे ही नहीं बढ़ते हैं। हम यह नहीं कहते कि आज ही राज्यसत्ता पर कब्जे के संघर्ष संगठित किये जायें किन्तु आज से ही मज़दूरों में राजनीतिक चेतना का प्रचार और विकास नहीं किया गया तो आने वाले समय के आन्दोलन भी बिना राजनीतिक चेतना के कुपोषण के शिकार होंगे। परन्तु संशोधनवादियों का सारा जोर ही आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ने, 20 और 30 प्रतिशत की दलाली हासिल करने, सदस्यताओं का चन्दा वसूल करने पर होता है। हमारा यह स्पष्ट मानना है कि आर्थिक संघर्ष भले ही आवश्यक हैं किन्तु मात्र उनसे काम नहीं चल सकता। पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र, कार्य प्रणाली का भी मज़दूरों को ज्ञान होना चाहिए। समाज बदलाव के नियमों का भी उन्हें भेद होना चाहिए। बिना वर्ग सचेत हुए न केवल आज के आर्थिक संघर्षों को जुझारू तरीके से लड़ा जा सकता है बल्कि आगामी संघर्षों को भी राजनीतिक सत्ता व्यवस्था को बदलने की तरफ़ यानि क्रान्ति की तरफ़ विकसित नहीं किया जा सकता। मज़दूरों के शोषण पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था के तहत रहते हुए मज़दूरों का कोई भला नहीं है। इसलिए व्यवस्था परिवर्तन के विचार मज़दूर वर्ग के बीच ले जाने बेहद ज़रूरी हैं। मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक लेनिन ने हड़ताल को मज़दूर वर्ग की प्राथमिक पाठशाला की संज्ञा दी है। इस दौरान मज़दूर मालिक, श्रम विभाग, चुनावी पार्टियों, राज्य, पुलिस, संविधान और पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र को समझने की सबसे माकूल स्थिति में होते हैं। किन्तु यह अफसोसजनक बात है कि अर्थवाद और संशोधनवाद मज़दूर आन्दोलनों को खासा नुकसान पहुँचा रहे हैं। इन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष की आवश्यकता है। आगे हम विस्तार से हरियाणा के मज़दूर और कर्मचारियों के संघर्षों, इनकी प्रवृत्तियों, दिशा, सम्भावनाओं, चुनौतियों पर विस्तार से लिखेंगे।

- बिगुल संवाददाता

आपस की बात

संशोधनवादियों के लिए कार्ल मार्क्स की प्रासंगिकता!

प्रिय सम्पादक महोदय, मैं मज़दूर बिगुल पिछले दो साल से पढ़ रहा हूँ तथा बिगुल मज़दूर दस्ता के साथ भी मैनें विभिन्न मौकों पर अभियानों में शिरकत की है। अपना एक अनुभव मैं बिगुल के पाठकों के साथ साझा करना चाहूँगा।

विगत 5 जून को मुझे रोहतक में 'मौजूदा देश-दुनिया और मार्क्सवाद' विषय पर सीपीआई (एम) के महासचिव सीताराम येचुरी को सुनने का मौका मिला। संशोधनवादी पार्टी से जुड़े नेता को सुनने का यह मेरा पहला मौका था। हम दो साथी इस मकसद से कार्यक्रम में पहुँचे थे कि वहाँ पर मार्क्सवादी और क्रान्तिकारी साहित्य की पुस्तक प्रदर्शनी लगाते हुए मज़दूर बिगुल अखबार का प्रचार भी लोगों के बीच कर देंगे तथा सीपीआई (एम) महासचिव को सुनते हुए मार्क्सवाद पर आम कार्यकर्त्ताओं के साथ बातचीत भी कर लेंगे। किन्तु हम वहाँ से - जिनकी कि हमें उम्मीद थी - काफ़ी खट्टे अनुभवों के साथ वापस लौटे!

पहले तो जाते ही हमने जैसे ही बिगुल अख़बार सहित मार्क्सवादी साहित्य लगाना शुरू किया तभी एक महाशय प्रकट हुए और प्रदर्शनी लगाने से ही मना करने लगे। कहने लगे कि हमसे अनुमति लेनी चाहिए थी। इस पर हमने कहा कि भाई यह तो मार्क्सवादी साहित्य ही है इससे आपको क्या दिक्कत हो सकती है और जहाँ तक अनुमति की बात है तो वह आप अब दे दीजिये। फ़िर बड़ी ही कुटिल मुस्कान के साथ उन्होंने फ़रमाया कि सम्भव नहीं हो पायेगा। खैर मार्क्सवादी-क्रान्तिकारी साहित्य और बिगुल अख़बार की प्रदर्शनी तो हमने आयोजन स्थल के ठीक बाहर मुख्य सड़क पर लगायी ही किन्तु यह किस्सा बताता है कि संशोधनवादी कितने संकीर्णमना होते हैं तथा अध्ययन से कितना कतराते हैं, कितने घबराये हुए हैं कि कहीं मज़दूर बिगुल उनके कैडर को "तोड़" न ले जाये! इनके लीडरान गाहे-बगाहे बिगुल के बारे में विभिन्न तरह की अफ़वाहें भी फैलाते रहते हैं! कार्यकर्त्ताओं को कूपमण्डूक बनाकर रखा जाता है और उन्हें ऐसा बना दिया जाता है अध्यन के नाम से ही बिदकने लगते हैं। और फ़िर ऐसे नमूने पैदा होते हैं जो बताते हैं कि बंगाल में वाम मोर्चे की हार मार्क्सवादी उसूलों के तहत ही हुई है क्योंकि लेनिन ने खुद ही तो कहा है 'एक कदम आगे दो कदम पीछे'। जबकि लेनिन की उक्त पुस्तिका का अर्थ और सन्दर्भ दोनों ही बिलकुल अलग हैं।

बहरहाल, अब आते हैं महासचिव येचुरी जी की ज्ञान की पंजीरी पर। बात की शुरुआत में ही चीन के राष्ट्रपति को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि मार्क्सवाद के उसूलों पर चलते हुए ही आज का चीन तरक्की की राह पर आगे बढ़ रहा है। जबकि असल बात यह है कि चीन मार्क्सवादी सिद्धान्तों को कभी का तिलांजलि दे चुका है। माओ त्से तुंग की मृत्यु के बाद माओ समर्थकों को झूठे मुक़दमे चलाकर जेलों में ठूँस दिया गया और देंग शाओ पिंग का संशोधनवादी धड़ा बाज़ार समाजवाद के नाम पर संशोधनवाद ले आया। यहीं से यानी 1977 के बाद से ही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी संशोधनवादी पार्टी बन गयी। 'फ़ोर मॉडर्नाइज़ेशन' के नाम पर पूँजीवादी नीतियों की शुरुआत हुई और चीन में राज्य का चरित्र समाजवादी न रहकर पूँजीवादी और सामाजिक फ़ासीवादी किस्म का हो गया। 1966-1976 के दौरान चली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं को धूल में मिलाते हुए आम जनता पर शोषण का पाटा चला दिया गया। समाजवादी व्यवस्था चूंकि एक संक्रमणशील व्यवस्था होती है। इस दौरान भी विभिन्न तरह की असमानताएँ समाज में मौजूद रहती हैं। यहीं पर पूँजीवादी पथगामी कम्युनिस्ट पार्टी में घुसपैठ करके न केवल पार्टी के चरित्र को बदल सकते हैं बल्कि उससे राज्य सत्ता का चरित्र भी बदल जाता है।

पहले सोवियत संघ इसका उदाहरण बना जहाँ स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेवी संशोधनवादी धड़ा पार्टी पर हावी हो गया और 1956 की बीसवीं पार्टी कांग्रेस के बाद सोवियत संघ लेनिन और स्तालिन कालीन सोवियत संघ नहीं रहा। क्योंकि अब समाजवादी व्यवस्था एक राज्य नियन्त्रित पूँजीवादी व्यवस्था में बदल गयी। 1990 आते-आते राज्य नियन्त्रित पूँजीवाद अपने अन्तर्विरोधों में फंसकर बिखर गया और खुले पूँजीवाद में तब्दील हो गया। यही परिणति देर-सबेर चीन में भी होने वाली है जब वह बाजार समाजवाद के नाम पर अस्तित्वमान राज्य नियन्त्रित पूँजीवाद से खुले पूँजीवाद में बदल जायेगा। मार्क्सवादी शिक्षाओं का जानकार इस बात को जानता है। जनता का खून-पसीना निचोड़कर चीन में पूँजीपतियों की संख्या आज न केवल दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से बढ़ रही है बल्कि चीन की कम्पनियाँ दुनिया भर की साम्राज्यवादी कम्पनियों के साथ सांठ-गाँठ करके दुनिया भर में पूँजी निवेश कर रही हैं। चीन में जनता का शोषण अपने चरम पर है। यही कारण है कि बहुत बड़ी मात्रा में चीन में मज़दूरों के विद्रोह उठते हैं जिन्हें दबा दिया जाता है। 2008 ओलम्पिक के समय सड़कों पर दीवारें खड़ी करके आम जनता के हालात को ढांपने के प्रयास किये गये थे। अमेरिकी-यूरोप के साम्राज्यवादी धड़े के सामने आज रूसी-चीनी साम्राज्यवादी धड़ा चुनौती तक पेश कर रहा है किन्तु भारत के संशोधनवादी चीन में मार्क्सवादी शिक्षाओं के अमल का गलत पाठ पढ़ाकर अपने कैडर को उल्लू बना रहे हैं। कैडर के स्तर पर बहुत से इमानदार लोग भी कुटिल नेतृत्व द्वारा बहला-फुसला कर चेले मूंड लिए जाते हैं। भारत में फ़ासीवाद के चरित्र और इससे मुक़ाबले की "रणनीति" को लेकर सीपीआई (एम) में येचुरी धड़े और करात धड़े के बीच बहस है किन्तु भाजपा के प्रतिक्रियावादी-दक्षिणपन्थी होने पर तो सभी एकमत हैं ही तो फ़िर क्या कारण है कि "चीनी समाजवादी लोकगणराज्य" का राष्ट्रपति मोदी के साथ गलबहियाँ करता नज़र आ रहा है?! भारत में करोड़ों-अरबों के चीनी निवेश पर इनकी क्या राय है? संशोधनवादियों की ये फ़ितरत होती है कि वे नाम तो मार्क्स का लेते हैं किन्तु सत्तासीन होने के बाद नीतियाँ पूँजीवाद की ही आगे बढ़ाते हैं। भारत की तथाकथित वामपन्थी पार्टियाँ भी नेहरू के समय खड़े किये गये पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद के लिए आँसू तो खूब बहाती हैं किन्तु जब सत्ता में भागीदारी की बात आती है तो उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की शुरुआत करने वाली और लम्बे समय तक इन नीतियों की सबसे बड़ी पक्षपोषक रहने वाली पार्टी कांग्रेस के साथ गलबहियाँ कर लेते हैं। जिन राज्यों में वाम मोर्चे की सरकारें रही हैं वहाँ भी निजीकरण और विदेशी निवेश के मामले में कमोबेश 'वही ढाक के तीन पात' वाली स्थिति रही है। फ़ासीवाद के हव्वे के सामने माकूल रणनीति और रणकौशल विकसित करने की बजाय कांग्रेस की गोद में बैठना भी भारतीय संशोधनवादियों की फ़ितरत रही है।संशोधनवादी मार्क्सवाद को कर्मो के मार्गदर्शन सिद्धान्त के तौर पर नहीं मानते और न ही लागू करते हैं। अतः मेरा तो सभी युवा कैडर से आग्रह है कि स्वयं मार्क्सवाद की क्लासिकीय रचनाओं का अध्ययन करें और संशोधनवादियों के झूठ और पाखण्ड को समझें।

– मनजीत चाहर,
रोहतक, हरियाणा

मज़दूर साथियो! न्यूनतम वेतन क़ानून के ज़रिये केजरीवाल की नयी नौटंकी का पर्दाफ़ाश करो! संगठित होकर अपने हक़ हासिल करो!!

- शाम

दिल्ली विधानसभा से पारित न्यूनतम वेतन (दिल्ली) संशोधन विधेयक 2017 को राष्ट्रपति की मंज़ूरी मिल गयी है। 'आप' सरकार के अनुसार दिल्ली में न्यूनतम वेतन लागू न होने की वजह 'न्यूनतम वेतन अधिनियम, 1948' के तहत अभी दिल्ली में न्यूनतम वेतन न देने वालों के ख़िलाफ़ सख्त कार्रवाई के प्रावधान की ग़ैर मौजूदगी थी। आप सरकार के संशोधित प्रावधान के अनुसार मज़दूरों को तय न्यूनतम वेतनमान से कम पर नौकरी पर रखने वाले नियोक्ताओं पर जुर्माने की रक़म 500 रुपये से बढ़ाकर 20 से 50 हज़ार रुपये तक के जुर्माने और साथ ही एक से तीन साल तक जेल की सज़ा या दोनों का प्रावधान किया गया है। नये क़ानून के अनुसार न्यायालय में शिकायत होने की तिथि से तीन माह की अवधि के भीतर इसका निपटान होगा। मार्च 2017 में, दिल्ली के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर अनिल बैजल ने दिल्ली सरकार के फ़ैसले को मंज़ूरी दे दी थी। फिर केन्द्र और राज्य सरकार के बीच बिल घूमता रहा और आखिरकार, कुछ बदलावों के बाद राष्ट्रपति रामनाथ कोविन्द ने विधेयक को अपनी सहमति देकर 4 मई 2018 को अधिसूचित किया था। इस क़ानून के ज़रिये मज़दूरों के जीवन में कितना बदलाव आयेगा इसे समझने के लिए हमें केजरीवाल सरकार की इस क़ानून को लागू करने की मंशा को समझना होगा, दूसरा अगर मंशा को हटा भी दिया जाये तो क्या इस क़ानून को लागू करने की मशीनरी दिल्ली सरकार के पास है या नहीं - इन सवालों पर हमें रौशनी डालनी होगी।

पहली बात यह कि क़ानून लागू करवाना केजरीवाल का एक जुमला है, क्योंकि असल में केजरीवाल सरकार की मज़दूरों को न्यूनतम वेतन देने की कोई मंशा नहीं है। केजरीवाल को चुनाव में चन्दा देने वाली एक बड़ी आबादी दिल्ली के छोटे-बड़े दुकानदारों, फ़ैक्टरी मालिकों और ठेकेदारों की है, वह इन्हें निराश कर मज़दूरों के जीवन स्तर को नहीं सुधार सकती है। केजरीवाल ने दिल्ली की मज़दूर आबादी के बीच इस क़ानून का महज़ जुमला उछाला है, क्योंकि केजरीवाल जानता है कि क़ानून लागू करवाने की मशीनरी के अभाव में बेहद छोटी-सी आबादी के बीच इसका प्रभाव होगा और इक्का-दुक्का फ़ैक्टरी मालिक ही इसके तहत नापे जायेंगे। इसके ज़रिये उसे मज़दूरों के बीच भी वाह-वाह सुनाने को मिलेगी और मालिकों के मुनाफ़े को भी आँच नहीं आयेगी। दिल्ली में काम करने वाली मेहनतकश आबादी के बीच न तो इस क़दम की कोई सुगबुगाहट है और न ही कोई आशा है, क्योंकि वे अपने अनुभव से जानते हैं कि यह क़ानून भी लागू नहीं होने वाला है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाली आबादी के पास यह साबित करने का कोई भी तरीक़ा नहीं है कि वे किस फ़ैक्टरी में काम करते हैं, अगर यह साबित हो जाये तो मालिक अपनी फ़ैक्टरी का नाम बदल देता है और बताता है कि पुरानी फ़ैक्टरी में तो वह मालिक ही नहीं था और इसके बाद श्रम विभाग मज़दूर पर यह ज़िम्मेदारी डाल देता है कि वह साबित करे कि मालिक कौन है। इस क़ानून को पास करवाने की घोषणा को ख़ुद विधायक और निगम पार्षद दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में प्रचारित नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वे या तो ख़ुद फ़ैक्टरी मालिक हैं या उनके चन्दे पर चुनाव जीते हैं। यह बात कुछ तथ्यों से ही साफ़ हो जाती है। जब 2013 में पहली बार केजरीवाल की सरकार बनी थी तो इसी केजरीवाल का पहला श्रम मन्त्री गिरीश सोनी चमड़े की फ़ैक्टरी का मालिक था, जिसमें मज़दूरों को न्यूनतम वेतन नहीं दिया जाता था। वज़ीरपुर के विधायक राजेश गुप्ता और निगम पार्षद विकास गोयल की वज़ीरपुर इण्डस्ट्रियल एरिया में फ़ैक्टरियाँ हैं, जहाँ न्यूनतम वेतन तो दूर हर श्रम क़ानून की धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। जब विधायक महोदय की ख़ुद की फ़ैक्टरी में न्यूनतम वेतनमान नहीं लागू होता है, तो वे वज़ीरपुर के अपने मालिक भाइयों की फ़ैक्टरियों में न्यूनतम वेतन लागू करवायेंगे? यही हाल आम आदमी पार्टियों के अन्य विधायकों का है, क्योंकि केजरीवाल के पचास प्रतिशत से अधिक विधायक करोड़पति हैं यानी बड़े दुकानदार, व्यापारी या फ़ैक्टरी मालिक हैं। साफ़ है कि मज़दूरों के लिए आम आदमी पार्टी व कांग्रेस-भाजपा में कोई अन्तर नहीं है। अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के लिए बने क़ानूनों को तो मालिक और ठेकेदार मानते ही नहीं हैं। दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूरों को आज भी 5 से 6 हज़ार रुपया मिलता है। किसी को भी न्यूनतम मज़दूरी नहीं मिल पाती। ख़ुद सरकारी विभागों में इसका खुलेआम उल्लंघन होता है। पूरे देश में सरकारी विभागों तक में 70 प्रतिशत के क़रीब मज़दूर ठेके पर, आउटसोर्सिंग, प्रोजेक्ट आदि के तौर पर आरजी तौर पर काम कर रहे हैं। सरकारी विभागों में क्लर्क, अध्यापक, टेक्निशियन आदि से हस्ताक्षर किसी राशि पर करवाये जाते हैं और दिया कुछ और जाता है। बेरोज़गारी के आलम की वजह से मजबूरी में हस्ताक्षर कर भी दिये जाते हैं। फ़ैक्टरियों में मालिक मज़दूर से पहले ही ख़ाली काग़ज़ पर अँगूठा लगवाकर रख लेता है। ईएसआई कार्ड बनवाता है तो उसे हर दूसरे-तीसरे महीने रद्द करवा देता है और पुनः नया कार्ड बनवाता है जिससे कि अगर वह किसी केस में फँसे तो दिखा सके कि फलाँ मज़दूर तो उसके यहाँ हाल में ही काम करने आया है। यह सब केजरीवाल के फ़ैक्टरी मालिक, व्यापारी और करोड़पति विधायकों या उनके करोड़पति समर्थकों को पता है।

दूसरी बात अगर सरकार की सही मायने में यह मंशा होती कि यह क़ानून लागू किया जाये तो सबसे पहले तो यही सवाल बनता है कि दिल्ली की आप सरकार ने पुराने क़ानूनों को ही कितना लागू किया है? अगर सही मायने में केजरीवाल सरकार की यह मंशा होती तो वह सबसे पहले हर फ़ैक्टरी में मौजूदा श्रम क़ानूनों को लागू करवाने का प्रयास करती, परन्तु पंगु बनाये गये श्रम विभाग के ज़रिये यह सम्भव ही नहीं है। कैग की रिपोर्ट इनकी हक़ीक़त सामने ला देती है। इस रिपोर्ट के अनुसार कारख़ाना अधिनियम, 1948 (Factories Act, 1948) का भी पालन दिल्ली सरकार के विभागों द्वारा नहीं किया जा रहा है। वर्ष 2011 से लेकर 2015 के बीच केवल 11-25% पंजीकृत कारख़ानों का निरीक्षण किया गया। निश्चित ही इस क़ानून से जिसको थोडा-बहुत फ़ायदा पहुँचेगा, वह सरकारी कर्मचारियों और संगठित क्षेत्र का छोटा-सा हिस्सा है, परन्तु यह लगातार सिकुड़ रहा है। दिल्ली की 65 लाख मज़दूर आबादी में क्या न्यूनतम मज़दूरी का संशोधित क़ानून घरेलू कामगारों, डाइवरों, प्राइवेट सफ़ाईकर्मियों आदि पर लागू हो पायेगा? 90 प्रतिशत मज़दूर आबादी जो दिहाड़ी, कैजुअल, पीस रेट, ठेके पर काम कर रही है, उसे न्यूनतम मज़दूरी क़ानून के मुताबिक़ मज़दूरी मिल पा रही है या नहीं इसकी कोई भी जानकारी दिल्ली सरकार के पास नहीं है। चुनाव में वायदा करके भी अब तक ठेका क़ानून को लागू नहीं करवा पायी। श्रम विभाग की स्थिति की अगर बात करें तो न तो उसके पास इतने कर्मचारी हैं कि सभी औद्योगिक क्षेत्रों व अन्य मज़दूरों की जाँच-पड़ताल की जा सके। नये प्रावधानों में नयी दरों के अनुसार दिल्ली में एक अकुशल मज़दूर/कर्मचारी के लिए न्यूनतम मज़दूरी 13350 रुपये प्रति माह, अर्द्ध कुशल के लिए, यह 14698 रुपये और कुशल मज़दूर/कर्मचारी के लिए 16182 रुपये हो गयी है। इसके अलावा दसवीं फेल के लिए 15,296, दसवीं पास के लिए 16,858 और ग्रेजुएट एवं ज़्यादा शिक्षित के लिए 18,332 रुपये प्रति माह न्यूनतम वेतन हो गयी है। परन्तु दिल्ली में मज़दूरों को 12-12 घण्टे फ़ैक्टरी में खटने के बाद महज़ आठ से नौ हज़ार रुपये मासिक वेतन मिलता है। न्यूनतम वेतन न मिल पाने के कारण दिल्ली के क़रीब 65 लाख मज़दूरों को हर माह 350 करोड़ रुपये का नुक़सान हो रहा है। पूँजीपतियों के वकील ने इस विधेयक के ख़िलाफ़ उच्च न्यायालय का दरवाज़ा भी खटखटाया। मालिकों का तर्क है कि बाज़ार की स्थितियों के अनुसार ही न्यूनतम वेतन तय होना चाहिए। मज़दूरी बढ़ने से उत्पादन व रखरखाव की लागत बढ़ेगी। और जिसकी वजह से अन्तरराष्ट्रीजय मार्किट में भारत टिक नही पायेगा। इसकी वजह से भारत में एफ़डीआई भी कम आयेगा। कुछ ऐसा ही तर्क तमिलनाडू में न्यूनतम मज़दूरी बढ़ने पर भी दिया जा रहा है। हर नियोक्ता के कई प्रतिद्वन्द्वी नियोक्ता को पटकनी देने के लिए मज़दूरों से सस्ते में ज़्यादा माल बनवाना चाहता है ताकि उसका माल सस्ता होने से बिक जाये। जो बात पूँजीपति समझते हैं, वह बात हम मज़दूरों को भी समझनी चाहिए कि न्यूनतम वेतन का सवाल बाज़ार से और अन्ततः इस पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ता है। इस व्यवस्था में मज़दूरों का वेतन असल में मालिक के मुनाफ़े और मज़दूर की ज़िन्दगी की बेहतरी के लिए संघर्ष का सवाल है। वेतन बढ़ोतरी के के लिए मज़दूर को यूनियन में संगठित होकर लड़ना ही होगा। फ़ैक्टरी में मज़दूर को बस उसके जीवनयापन हेतु वेतन भत्ता दिया जाता है और बाक़ी जो भी मज़दूर पैदा करता है, उसे मालिक अधिशेष के रूप में लूट लेता है। अधिक से अधिक अधिशेष हासिल करने के लिए मालिक वेतन कम करने, काम के घण्टे बढ़ने या श्रम को ज़्यादा सघन बनाने का प्रयास करते हैं और इसके खिलाफ़ मज़दूर संगठित होकर ही संघर्ष कर सकता है।

अगर इस क़ानून की तफ़सीलों पर बात करने के बाद इससे हम किसी निष्कर्ष को निकालें तो हमें यह बात समझनी होगी कि इस क़ानून को भी लड़कर लागू कराया जा सकता है। हम इस क़ानून को अपनी एकता के बल पर औद्योगिक क्षेत्रों में भी लागू करवा सकते हैं। वज़ीरपुर में हुई 2014 की हड़ताल के दौरान मज़दूरों के दबाव के कारण श्रम विभाग को फ़ैक्टरियों पर छापे मारने पड़े थे और श्रम क़ानूनों के उल्लंघन के लिए कई मालिकों को जुरमाना भी देना पड़ा था। जहाँ मज़दूर एकजुट होकर लड़ेगा, वहाँ वह अपने हक़ की लड़ाई जीत सकता है। परन्तु हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि मौजूदा क़ानून की कमजोरी क्या है। हमें सरकार से यह भी माँग करनी चाहिए कि न्यूनतम मज़दूरी को संविधान की नवीं अनुसूची के अन्तर्गत लाया जाये, ताकि इससे सम्बन्धित क़ानून पर अमल के मसले पर न्यायालयों से स्थगनादेश (स्टे) नहीं लिया जा सके। दूसरी यह माँग की गयी थी कि क्षेत्रीय विविधताओं के नाम पर न्यूनतम मज़दूरी में अन्तर का तर्क रद्द करके, सरकारी नौकरियों की तर्ज़ पर, देशभर में एक ही न्यूनतम मज़दूरी तय की जाये। इसके लिए संवैधानिक प्रावधानों और क़ानूनों में आवश्यक संशोधन किये जायें। महानगरों और दुगर्म क्षेत्रों में होने वाले अतिरिक्त ख़र्चों की भरपाई के लिए सभी प्रकार के कामगारों को विशेष भत्ते दिये जायें।

आखिर में हमें यह बात समझनी होगी कि अगर इस क़ानून को लागू करवाकर मज़दूरी बढ़ती है तो इससे तात्कालिक तौर पर तो मज़दूरों का फ़ायदा होगा। परन्तु इस माँग को उठाते हुए यह समझना चाहिए कि महज़ इतना ही करते रहेंगे तो चर्खा कातते रह जायेंगे और गोल-गोल घूमते रह जायेंगे। महँगाई बढ़ेगी तो बढ़ी मज़दूरी फिर कम होने लगती है। इसलिए तो हर पाँच साल में दोबारा न्यूनतम मज़दूरी को बढ़ाने के लिए न्यूनतम मज़दूरी आयोग को दोबारा बनाना पड़ता है और नये सर्वे के ज़रिये नये बढ़े हुए वेतनमान की माँग को लागू करके तात्कालिक तौर पर मेहनतकशों का गुस्सा शान्त हो जाता है। क्या हमारी लड़ाई महज़ न्यूनतम वेतन लागू करवाने तक सीमित है? क़तई नहीं, दूरगामी तौर पर जनता के अगुआ हिस्सों को राजनीतिक रूप से शिक्षित करके उन्हें इस पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दियों के बारे में बताना होगा और उन्हें पूँजीवादी व्यवस्था की 'मज़दूरी की व्यवस्था को नाश करने' की माँग के बारे में शिक्षित करते हुए उबारना होगा। जब तक हम यह नहीं करते हम शोषित और उत्पीडित रहेंगे और हमारे हिस्से में झुग्गियाँ, नालियाँ, बीमारियाँ और बेरोज़गारी हमेशा मुहँबाए खड़ी रहेगी।

ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के बीच माँगपत्रक आन्दोलन की शुरुआत

27 मई 2018 से गुड़गाँव में ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के माँगपत्रक आन्दोलन की शुरुआत की गयी। सबसे पहले गुड़गाँव में ऑटो पार्ट्स बनाने वाली वेण्डर कम्पनी रिको, मदर कम्पनी मारुति पर ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन की तरफ़ से पर्चा वितरण किया गया, और माँगपत्रक आन्दोलन से जुड़ने तथा यूनियन की सदस्यता के लिए मज़दूरों से सम्पर्क किया। इसी कड़ी में फिर गुड़गाँव सेक्टर 10 के बाला पार्क में बैठक भी हुई। यूनियन के साथी अनन्त और शाम ने हर जगह ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के माँगपत्रक की मुख्य माँगों को रेखांकित किया और आन्दोलन की ज़रूरत और इससे जुड़ने का आह्वान किया गया। मज़दूर साथियों को सम्बोधित करते हुए हर जगह इस बात को स्पष्ट किया गया कि दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह खटने के बाद बस किसी तरह ज़िन्दा रहना हमारी ज़िन्दगी की निर्मम सच्चाई है। आज कारख़ाने में असेम्बली लाइन पर गाड़ी या उसके पुर्जे बनाने वाले हम मज़दूरों को मशीन का सबसे फ़ालतू हिस्सा समझा जाता है, जिसे ज़रूरत-भर निचोड़कर सड़क पर फेंक दिया जाता है। 17-18 साल की उम्र से काम की शुरुआत करने के बाद लगभग 25-30 साल तक की उम्र तक आते-आते एक मज़दूर इन कारख़ानेदारों के लिए बेकार हो जाता है। यही कारण है कि ऑटोमोबाइल सेक्टर में मज़दूरों की भर्ती 25-30 साल के बाद आमतौर पर बन्द कर दी जाती है। कारख़ाने में काम के वक़्त हादसा एक आम बात है। अंग-भंग होने से लेकर ज़िन्दगी खोने तक एक मज़दूर हमेशा इस ख़ौफ़ के साये में जीता है। आखिर ऐसा कब तक चलेगा कि हम अपना हाड़-मांस कारख़ाने में गलाये और इसके बदले हमारे बच्चे भूखों मरे?

ऑटोमोबाइल सेक्टर की चमक के पीछे मज़दूरों का अन्धकारमय जीवन

देश के विकास का बखान करते वक़्त सबसे पहले ऑटोमोबाइल पट्टी की बात आती है और हो भी क्यों न? देश के सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 7.1 फ़ीसदी हिस्सा ऑटोमोबाइल सेक्टर से ही आता है। ऑटोमोबाइल सेक्टर के उत्पादन का आधा से अधिक हिस्सा गुडगाँव-मानेसर-धारुहेड़ा–बावल से लेकर भिवाड़ी-ख़ुशखेड़ा-नीमराना में फैली औद्योगिक पट्टी से आता है। यह पट्टी देशी-विदेशी पूँजी के लिए अकूत मुनाफ़ा लूटने का चारागाह है। किन्तु, यहाँ पर काम कर रहे मज़दूरों का जीवन नर्क से बदतर है। यहाँ हज़ारों कारख़ाना इकाइयों में काम कर रहे लाखों मज़दूर प्रतिदिन 10-12 घण्टा कमरतोड़ मेहनत करने के बावजूद बमुश्किल किसी तरह 8-10 हज़ार रुपये प्रतिमाह कमा पाते हैं। काम के हालात इस तरह हैं कि मज़दूरों को एक मिनट के अन्दर 13 प्रक्रियाओं से गुज़रना होता है। मुनाफ़े की हवस में कारख़ानेदार सुरक्षा उपकरणों से समझौता करता है, जिसका नुक़सान मज़दूर को अपनी ज़िन्दगी तक देकर चुकाना पड़ता है। पूरे ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के ऊपर ठेका प्रथा की मार पड़ रही है। इस सेक्टर में काम कर रहा 85 से 90 फ़ीसदी हिस्सा ठेका मज़दूरों का है। कारख़ानेदार मज़दूरों से अपनी देख-रेख में मुख्य उत्पादन पट्टी पर स्थायी प्रकृति का काम करवाता है, लेकिन उसकी नियुक्ति से लेकर पगार तक की ज़िम्मेदारी ठेकेदार को सौंप देता है। इस तरह कारख़ाना प्रबन्धन मज़दूरों के प्रति अपनी जवाबदेही से बच जाता है, और जब चाहे तब मज़दूर को एक झटके में काम से निकल सकता है। इसके बाद श्रम-विभाग से लेकर ज़िला-प्रशासन तक मज़दूर दौड़ता रहता है, किन्तु हर जगह उसे ठेका श्रमिक कह कर पल्ला झाड़ लिया जाता है। मोदी सरकार "श्रम सुधारों" 'मेक-इन-इण्डिया' और 'स्टार्ट-अप' के नाम पर श्रम क़ानूनों में संशोधन कर सभी सेक्टरों में (रेडिमेड गारमेण्ट और चमड़ा उद्योग के बाद) 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' का प्रावधान लागू करने की तैयारी कर रही है, जिसके तहत न तो कारख़ानेदारों को ठेकेदारों की ज़रूरत रहेगी, और न ही पक्का करने की ज़रूरत रहेगी। कारख़ाना प्रबन्धन मज़दूरों को जब चाहे तब बिना किसी पूर्वसूचना के काम से निकाल सकता है। अप्रेण्टिस एक्ट (प्रशिक्षु अधिनियम) में संशोधन कर सरकार ने एक तरफ़ बड़ी संख्या में स्थायी मज़दूरों की जगह ट्रेनी मज़दूरों को भर्ती करने का क़दम भी उठा लिया है, वहीं दूसरी तरफ़ अकुशल मज़दूरों को कुशल बनाने के नाम पर बहुत कम वेतन पर ट्रेनी मज़दूरों को फ़ैक्टरियों में निचोड़ने का गोरखधन्धा ज़ोरों पर है। जिसकी बाद में कोई रोज़गार की गारण्टी नहीं है। मज़दूरों की एकता को तोड़ने के लिए उन्हें स्थायी व अस्थायी की विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जाता है। स्थायी मज़दूरों की आर्थिक स्थिति तुलनात्मक रूप से ठीक होने के बावजूद, उनके हितों पर लगातार हमला किया जाता है। 'ठेका प्रथा' तथा 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति', अप्रेण्टिस व ट्रेनी जैसे हथकण्डों से सीधा स्थायी श्रमिकों की संख्या घटायी जाती है। कारख़ानेदार जब-तब उनके निलम्बन, निष्कासन की ताक में लगा रहता है। मालिकों के फ़ायदे के लिए कारख़ाने के अन्दर हमारा ख़ून-पसीना निचोड़ने का जो काम मैनेजर, पर्सनल विभाग, लाइन इंचार्ज का गिरोह मिलकर करता है; वही काम पूरे देश में मालिक वर्ग के लिए मोदी सरकार कर रही है। गद्दी सँभालते ही मोदी ने पूँजीपतियों के वफ़ादार की भूमिका निभायी है।

सत्ता में बैठी पिछली कांग्रेसी सरकार जहाँ श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर पूँजीपतियों की चाकरी कर रही थी, वहीं फ़ासीवादी भाजपा सरकार धर्मोन्माद की आँधी के पीछे अपने असल काम यानी मज़दूरों के बचे-कुचे श्रम क़ानूनों पर हमला कर रही है। 'श्रमेव जयते' का नारा लगाने वाली मोदी सरकार मज़दूर विरोधी क़ानून बिना देर किये 31 जुलाई 2014 को फ़ैक्टरी एक्ट 1948, ट्रेड यूनियन एक्ट 1926, औद्योगिक विवाद अधिनियम 1948, ठेका मज़दूरी क़ानून 1971, एप्रेण्टिस एक्ट 1961 से लेकर तमाम श्रम क़ानूनों को कमज़ोर करने और ढीला करने की कवायद शुरू कर दी थी। और बीते साल – मज़दूरी संहिता विधेयक (कोड ऑफ़ वेजेस बिल) 2017 (जिसके तहत 44 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों को 4 नियमावलियों में समेटना) नामक एक अहम विधेयक लोक सभा की केबिनेट में पास करवा चुकी है और आगामी संसद के मानसून सेशन में लागू करवाने के लिए प्रस्तुत करने वाली है। इस विधेयक में मज़दूरों की मज़दूरी कम करने, मालिकों को बोनस से छुटकारा दिलाने, ट्रेड यूनियन की कार्यवाइयों पर रोक लगाने, फ़ैक्टरियों के निरीक्षण में ढील देने और न्यूनतम मज़दूरी न देने पर रोक लगाने सहित ढेरों मज़दूर विरोधी प्रावधान हैं। मोदी सरकार के "अच्छे दिनों" का सच यही है! भाजपा ने केन्द्र में और हरियाणा प्रदेश में हुड्डा से लेकर खट्टर, राजस्थान में वसुन्धरा सरकार तक मज़दूरों को लूटने-उगने का काम वहीं से आगे बढ़ाया है, जहाँ पर कांग्रेस ने छोड़ा था। वहीं कारख़ानेदार मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न को अंजाम देने के लिए लम्पट हथियारबन्द बाउंसरों की एक फ़ौज पालता है। श्रम-विभाग, ज़िला-प्रशासन, सरकार, पुलिस, मीडिया का पूरा तन्त्र मज़दूरों के संघर्ष को दबाने के लिए मिलकर काम करता है। इनका प्रतिरोध कैसे किया जाये? केन्द्रीय ट्रेड यूनियन इस प्रतिरोध को नेतृत्व देने में अक्षम हैं। बीते दो दशकों से अलग-अलग संघर्षों में तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की समझौतापरस्ती और ग़द्दारी लगातार सामने आती रही है। इनकी मौक़ापरस्ती के चलते ही कई सम्भावनासम्पन्न आन्दोलन मज़दूरों की वीरता के बावजूद असफल हो गये। ऑटोमोबाइल सेक्टर के अस्सी फ़ीसदी अस्थायी मज़दूरों की माँगें इनके एजेण्डे से ही गायब हैं। ज़ाहिर है, चुनावबाज़ पार्टियों की इन दुमछल्ली यूनियनों से उम्मीद करना बेमानी है। इनके अलावा कुछ ने मज़दूरों के 'सहायता केन्द्र' व 'इंक़लाबी केन्द्र' खोले रखे हैं, जिनकी अराजकतावादी व संकीर्णतावादी भूमिका की वजह से मारुति से लेकर तमाम संघर्ष बर्बाद हो चुके हैं और बस केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का पिछलग्गू बन रहे हैं। मज़दूरों की शानदार कुर्बानी और लड़ाकू तेवर में कई सम्भावनासम्पन्न आन्दोलन एक कारख़ाने की चौहद्दी तोड़कर सेक्टरगत व इलाक़ाई मज़दूर आन्दोलन के उभार का रूप नहीं ले पाया। ऑटोसेक्टर के भीतर सक्रिय विभिन्न विजातीय प्रवृतियों के कारण ऐसा न हो सका।

मज़दूर माँगपत्रक के साथ सेक्टरगत आधार पर क्रान्तिकारी संघर्ष संगठित करने की ज़रूरत पर बल देते हुए अनन्त ने कहा कि आज ऑटोमोबाइल सेक्टर में हुए पिछले संघर्षों के निचोड़ के तौर पर यह बात कही जा सकती है कि क्रान्तिकारी संघर्ष एक कारख़ाने की चौहद्दी के बाहर पूरे सेक्टर की तर्ज पर ही संगठित किया जा सकता है। अलग-अलग फ़ैक्टरियों के आधार पर बनी स्वतन्त्र ट्रेड यूनियनें भी बहादुरी व ईमानदारी के बावजूद कैजुअल और ठेका मज़दूरों के संघर्ष को लड़ने में नाकाम रही हैं, क्योंकि एक कारख़ाने के दायरे में ठेका मज़दूरों का संघर्ष बेहद कमज़ोर होता है। आज पूरे सेक्टर के चाहे (वे मदर कम्पनी के हों या वेण्डर कम्पनी के) लाखों श्रमिकों की समस्याएँ एक-सी हैं। इस पूरे औद्योगिक क्षेत्र के मज़दूरों के मुद्दे एक हैं, समस्याएँ एक हैं, माँगें एक हैं इसीलिए हमें पूरे सेक्टर के मज़दूरों को अपने साझा माँगपत्रक के गिर्द लामबन्द करके क्रान्तिकारी संघर्ष संगठित करने की ज़रूरत है। जब हम मज़दूर अपनी मेहनत के दम पर इन कारख़ानेदारों की तिजोरियों को भरते हैं, तो क्यूँ नहीं हम अपने हक़-अधिकार के लिए अपना सर्वस्व लगाकर संघर्ष करें। सबकुछ हमारे दम पर है और हमारे लिए कुछ भी नहीं, इसलिए हम लड़ें और लड़कर जीतें।

तेल की लगातार बढ़ती क़ीमत

(पेज 9 से आगे)

में से बाद में संशोधित बजट में 36,556 करोड़ रुपये की कटौती कर दी। यहाँ एक बात पर और चर्चा करना बेहद ज़रूरी है कि, हर साल जो बजट में आवण्टित राशि अलग-अलग मद में दी जाती है, सरकार बाद में उसमें परिवर्तन कर संशोधित बजट कर किसी और मद में हस्तान्तरित कर सकती है। ऊपर की तालिका से साफ़ तौर पर पता चलता है कि मोदीकाल में आधारभूत पूँजी-निवेश में सिर्फ़ 7 प्रतिशत सालाना के हिसाब से मामूली वृद्धि हुई है, जोकि बेहद सामान्य है जो पहले से भी होती रही है। मसलन साफ़ है कि पेट्रोल से कमाई गयी राशि का इस्तेमाल आधारभूत पूँजी निर्माण में नहीं हुआ, बल्कि कहीं और हुआ है। इस झूठ के पुलिन्दे के कफ़न में आखिरी कील ठोकने के लिए ये तर्क भी बेहद उचित है कि अगर सड़क निर्माण के लिए पेट्रोलियम से अधिक टैक्स वसूले जा रहे हैं तो टोल टैक्स और रोड टैक्स किसलिए वसूला जाता है?

ईरान को मोदी द्वारा 43 हज़ार करोड़ रुपये का पुराना क़र्ज़ लौटाने का भ्रामक प्रचार

भक्तों का एक और झूठ बहुत प्रचलित हो रहा है कि पिछली सरकार ने ईरान से 43,000 करोड़ का क़र्ज़ नहीं चुकाया था इसलिए पेट्रोल और डीज़ल की क़ीमतें बढ़ रही हैं। आइए इस झूठ का भी पर्दाफ़ाश करते हैं। 2011 में अमेरिका और नाटो ने ईरान पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, क्योंकि ईरान 2006 से ही अपने लिए परमाणु हथियार बना रहा था। ईरान भारत को 4,00,000 बैरल प्रतिदिन तेल भेजता था, जो घटकर 1,00,000 बैरल प्रतिदिन पर आ गया। भारत ईरान से ख़रीदे गये तेल का 55 प्रतिशत हिस्सा तुर्की के हल्क बैंक के ज़रिये भुगतान करता था। और बाक़ी की बची 45 प्रतिशत रक़म भारत यूको बैंक के ज़रिये रुपये में ईरान को देता था। 2013 में अमेरिका ने ईरान पर और भी प्रतिबन्ध लगा दिये, जिसकी वजह से ईरान को भुगतान हल्क बैंक के ज़रिये नहीं हो पा रहा था। नतीजा यह हुआ कि भारत पर ईरान का कुल 6.4 बिलियन डॉलर बकाया हो गया। इस बकाये में तेल कम्पनी मंगलोर रीफ़ाइनरी एण्ड पेट्रोकेमिकल लिमिटेड को 500 मिलियन डॉलर, निजी कम्पनी एस्सार ऑयल को 500 मिलियन डॉलर और इण्डियन ऑयल कारपोरेशन को क़रीब 250 मिलियन डॉलर देने थे। इसके अलावा हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कारपोरेशन को 642 करोड़ रुपये और एचपीसीएल मित्तल एनर्जी को 200 करोड़ और इनके अलावा दूसरी कम्पनियों पर भी ईरान का बकाया था। ये प्रतिबन्ध 14 जुलाई 2015 तक जारी रहे। इसके बाद ईरान से कुछ प्रतिबन्ध हटा लिये गये, लेकिन हल्क बैंक के ज़रिये पेमेण्ट पर रोक बरक़रार रही। इस दौरान ईरान ने प्रतिबन्ध हटने के बाद से नियमों में बदलाव कर दिया। पहले तो ईरान भारत को दिये जाने वाले तेल पर आधा ही ट्रांसपोर्टेशन चार्ज लेता था, लेकिन अब पूरा किराया लेना शुरू कर दिया। इस तरह हम देख सकते हैं कि ईरान का कोई क़र्ज़ नहीं था, सिर्फ़ पेमेण्ट के चैनल बन्द हो गये थे, इसलिए उसे भुगतान नहीं हो पा रहा था, जो पेट्रोल डीज़ल आम जनता ख़रीद चुकी थी, उसका पैसा तो तेल कम्पनियों के पास जमा था, बस वो ईरान को दे नहीं पा रहे थे। इसमें क़र्ज़ वाली कोई बात नहीं है जो ये झूठे भक्तगण फैला रहे थे।

यानी कुल मिलकर बात यह है कि एक तरफ़ तो मोदी सरकार तेल की अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में घटती-बढ़ती क़ीमतों से इतर हमें बेइन्तहा लूट रहे हैं और इस लूट को वैध क़रार देने के लिए मोदी का गोदी मीडिया, भाजपा का आईटी सेल और संघी जमकर झूठ का कीचड़ फैला रहे हैं। परन्तु सच यह है कि संघी सरकार कॉरपोरेट घरानों के तलवे चाट रही है और देश को लूट और बर्बाद कर इन्हें आबाद कर रही है। इस लूटतन्त्र और झूठतन्त्र से सत्यापित करने के प्रयास को हमें बेनकाब करते रहना होगा।

मौजूदा आर्थिक संकट और मार्क्स की 'पूँजी'

– मुकेश असीम

यह बात तो आज सबके सामने स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था एक बेहद गहन संकट की शिकार है। वर्तमान सत्ताधारी दल के घोर समर्थक भी अब इससे इंकार कर पाने में असमर्थ हैं, क्योंकि भयंकर रूप से बढ़ती बेरोज़गारी, घटती मज़दूरी, आसमान छूती महँगाई, अधिसंख्य जनता के लिए पोषक भोजन का अभाव, शिक्षा-स्वास्थ्य-आवास आदि सुविधाओं से वंचित होते अधिकांश लोग, कृषि में संकट और बढ़ती आत्महत्याएँ – ये सब ऐसे तथ्य हैं जिन्हें झुठलाना अब किसी के बस में नहीं। अभी बहस का मुद्दा इस संकट की वजह और इसके समाधान का रास्ता है। बीजेपी, कांग्रेस, आदि बुर्जुआ पार्टियाँ और उनके समर्थक इसके लिए एक-दूसरे की नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराते और ख़ुद की सरकार द्वारा इससे निजात दिलाने के बड़े-बड़े गलाफाड़ू दावे करते देखे जा सकते हैं, लेकिन सरकार कोई भी रहे, आम मेहनतकश जनता के जीवन में संकट है कि कम होने के बजाय बढ़ता ही जाता है। इसलिए ज़रूरी है कि इन चुनावी पार्टियों की बहस में पड़ने के बजाय हम इसके मूल कारणों को समझने का प्रयास करें।

इसे समझने के लिए दुनिया के सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स द्वारा 150 वर्ष पहले लिखी अपनी कालजयी पुस्तक 'पूँजी' में उद्घाटित पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के नियमों को जानना-समझना ज़रूरी है। पूँजी की गतिकी के अपने विश्लेषण में मार्क्स ने बताया था कि प्रतिद्वन्द्विता में अन्य पूँजीपतियों को पछाड़ने के लिए प्रत्येक पूँजीपति को अपने उत्पादन को सस्ता करना होता है, जिससे वह बाज़ार में कम क़ीमत पर अधिकाधिक माल बेच सके। किन्तु माल उत्पादन में प्रयुक्त इमारत, मशीन, आदि के प्रति इकाई ख़र्च व लगी सामग्री की क़ीमत जोड़ने के पश्चात उत्पादित माल का मूल्य निर्धारित करने वाला कारक उत्पादन प्रक्रिया में लगी श्रम-शक्ति की मात्रा ही है। उदाहरण के लिए, अगर प्रति इकाई 100 रुपये अचर पूँजी से उत्पादित माल का मूल्य 200 रुपये हो तो यह अतिरिक्त 100 रुपये उसमें लगे श्रम की मात्रा या श्रम-शक्ति के समय की मात्रा से ही आता है। इस अतिरिक्त 100 रुपये में से एक हिस्सा श्रम-शक्ति के मूल्य के एवज़ में मज़दूरी के रूप में भुगतान कर दिया जाता है और बचा हिस्सा पूँजीपति के पास रह जाता है जिसे अधिशेष मूल्य कहते हैं। पूँजीपति का मुनाफ़ा, बैंक द्वारा दिये गये क़र्ज़ पर ब्याज़, उपयोग में लायी गयी ज़मीन-इमारत का लगान या किराया, सरकार को प्राप्त टैक्स - सब श्रमिक द्वारा उत्पादित लेकिन पूँजीपति के पास रह गये इसी अधिशेष मूल्य में से ही आता है। इसलिए पूँजीपति को प्रतिद्वन्द्विता में अपने माल की क़ीमत कम करने के लिए उत्पादन में नयी मशीनों और तकनीक का प्रयोग कर कम श्रम-शक्ति के प्रयोग द्वारा अधिक उत्पादन करना ही होता है। इसके लिए उसे निरन्तर अपनी निवेशित पूँजी का जैविक संघटन बढ़ाते जाना होता है अर्थात उत्पादन में लगी श्रम-शक्ति अर्थात चर पूँजी की तुलना में अचर पूँजी (मशीनों, प्रयुक्त कच्चे माल, आदि पर लगी पूँजी) की मात्रा बढ़ती जाती है, जिससे वह श्रम-शक्ति की उत्पादकता बढ़ाकर कम श्रमिकों से अधिक उत्पादन करा सके और उसके उत्पादित माल की लागत कम हो जाये। तब वह इसे कम बाज़ार क़ीमत पर बेचकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ सकता है, क्योंकि नयी तकनीक से माल का मूल्य कम हो जाने पर पुरानी तकनीक द्वारा अधिक लागत पर उत्पादन करने वाले पूँजीपति को भी नयी कम क़ीमत पर ही माल बेचना होता है या बाज़ार से बाहर होना पड़ता है। दोनों ही स्थितियों का नतीजा उसका दिवालिया होना है।

पर इसका नतीजा क्या होता है? एक सीमा के बाद उत्पादन में प्रयुक्त पूँजी की मात्रा जिस तेज़ी से बढ़ती है, पूँजीपति को प्राप्त अधिशेष मूल्य उस तेज़ी से नहीं बढ़ता और लगायी गयी कुल पूँजी पर प्राप्त मुनाफ़े की दर गिरने लगती है। उदाहरण के तौर पर अगर पहले 1000 रुपये की पूँजी पर 250 रुपये अर्थात 25% दर से मुनाफ़ा मिलता था और अब पूँजी बढ़कर 2000 रुपये हो गयी और मुनाफ़ा 400 रुपये हुआ तो हालाँकि कुल मुनाफ़ा बढ़ गया पर मुनाफ़े की दर घटकर 20% ही रह गयी। इसे ही मार्क्स ने पूँजीवाद में मुनाफ़े की घटती दर की प्रवृत्ति का नियम कहा। इसका दूसरा नतीजा होता है कि सभी पूँजीपतियों द्वारा इस होड़ में अधिकाधिक उत्पादन से कुल उत्पादन की मात्रा बाज़ार में ख़रीद के लिए उपलब्ध क्रय-शक्ति से अधिक हो जाती है जिसे अति-उत्पादन कहा जाता है अर्थात समाज की आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं, बल्कि ख़रीदने की क्षमता से अधिक उत्पादन। इसके चलते जिन पूँजीपतियों की उत्पादन लागत अधिक होती है, वह हानि के कारण दिवालिया हो जाते हैं। उनको क़र्ज़ देने वाले बैंक और अन्य वित्तीय संस्थानों को भी अपनी पूँजी का नुक़सान झेलना होता है। यही पूँजीवाद में निरन्तर पैदा होते आर्थिक संकटों का मूल कारण है। पूँजी के विनाश या अवमूल्यन द्वारा इसका तात्कालिक समाधान होता है, जैसे दिवालिया हुई कम्पनी की सम्पत्ति को औने-पौने दामों में बेचने से जहाँ उसके निवेशकों की पूँजी का विनाश होता है, वहीं जिस पूँजीपति को वह तिहाई-चौथाई या और कम दामों पर मिलती है, उसके लिए तात्कालिक तौर पर मुनाफ़े की दर कुछ हद तक बढ़ जाती है, जैसे भूषण स्टील में लगी लगभग 70 हज़ार करोड़ रुपये की पूँजी अवमूल्यन के बाद टाटा स्टील को 30 हज़ार करोड़ रुपये में प्राप्त हो जाये तो तुरन्त उसके मुनाफ़े की दर में कुछ हद तक वृद्धि होगी। लेकिन इससे पूँजीवाद के संकट का कोई स्थायी समाधान नहीं होता क्योंकि मार्क्स द्वारा उद्घाटित उसके अनिवार्य नियम से वही प्रक्रिया फिर से जारी रहती है तथा बाद में और भी गहन संकट को जन्म देती है।

इसे समझने के लिए हम भारत के टेलीकॉम उद्योग का उदाहरण लेते हैं। 10 वर्ष पहले भारत में दर्जन-भर से अधिक निजी टेलीकॉम कम्पनियाँ थीं, जो अब घटकर मात्र तीन ही रह गयीं हैं – एयरटेल, आइडिया व जियो। शेष सब या तो इनमें विलय हो गयीं या दिवालिया होकर बन्द हो गयीं। इस दौरान मोबाइल सम्बन्धी कारोबार भी ख़ूब बढ़ा है, साथ ही शेष सब कम्पनियों के बन्द हुए कारोबार का हिस्सा भी इन तीन कम्पनियों में ही बँट गया है। फिर बड़े पैमाने पर श्रमिकों की छँटनी हुई है और अब बढ़े हुए काम को पहले से काफ़ी कम श्रमिकों द्वारा किया जा रहा है। सामान्य नज़रिये से देखें तो इन सब वजहों से ये बची हुई तीन कम्पनियाँ तो बहुत भारी मुनाफ़े में होनी चाहिए? मगर ऐसा नहीं है, इनका मुनाफ़ा और ख़ासतौर पर निवेश की गयी पूँजी पर मिलने वाले मुनाफ़े की दर और घट गयी है। ऐसा क्यों?

हालाँकि अधिकाधिक पूँजी निवेश के नतीजे में टेलीकॉम उद्योग में पूँजी के संकेन्द्रण-सान्द्रण की प्रक्रिया पहले ही जारी थी पर दो साल पहले जियो द्वारा कम श्रम-शक्ति व अधिक उत्पादकता वाली उन्नत तकनीक में भारी पूँजी निवेश के साथ प्रतियोगिता में उतरने से यह प्रक्रिया अत्यन्त तेज़ हो गयी। जो प्रतिद्वन्द्वी इसके मुक़ाबले पूँजी निवेश बढ़ाने में असमर्थ थे, वे पिछड़ने लगे। साथ ही मार्क्स के मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार प्रति इकाई उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-शक्ति के समय की मात्रा में कमी के कारण सिर्फ़ जियो ही नहीं सभी कम्पनियों के उत्पादित माल – यहाँ कॉल, सन्देश, डाटा, आदि माल ही हैं – का मूल्य ही कम नहीं हुआ बल्कि माँग के मुक़ाबले आपूर्ति बढ़ने से उनके बाज़ार दाम में और भी अधिक गिरावट हुई। इससे पुरानी तकनीक पर अधिक श्रम-शक्ति के प्रयोग से अर्थात अधिक लागत पर उत्पादन करने वाली कम्पनियाँ जैसे टाटा टेलीसर्विसेज़, रिलायंस कम्यूनिकेशन, आदि दिवालिया होने लगीं या वोडाफ़ोन की तरह दूसरी कम्पनियों द्वारा अधिगृहीत कर ली गयीं। पर दर्जन-भर कम्पनियों का कारोबार मात्र तीन के हाथ में आने से भी समस्या हल नहीं हुई, क्योंकि कम लागत पर अधिक आपूर्ति से बाज़ार मूल्य कम होने से पूरे उद्योग की कुल बिक्री ही कम हो गयी है। दो साल पहले पूरे टेलीकॉम उद्योग की कुल बिक्री 1 लाख 80 हज़ार करोड़ रुपये थी, पर मार्च 2018 में ख़त्म हुई तिमाही में इन कम्पनियों द्वारा घोषित परिणामों से हिसाब लगायें तो अब यह घटकर मात्र 1 लाख 25 हज़ार करोड़ रुपये ही रह गयी है जबकि जियो तथा उसके मुक़ाबले हेतु एयरटेल तथा आइडिया द्वारा किये गये भारी पूँजी निवेश के कारण तीनों की कुल पूँजी बढ़कर 80 हज़ार करोड़ रुपये से अधिक हो चुकी है। अभी तो हालत यह है कि मात्र कुल पूँजी पर प्राप्त मुनाफ़े की दर ही नहीं कुल मुनाफ़ा भी कम हो गया है। इसलिए इससे भी संकट का कोई समाधान नहीं निकाल पाया और अन्देशा है कि इनमें से एक और कम्पनी पर संकट की तलवार लटक रही है।

ऐसी ही स्थिति विद्युत, इस्पात, सूचना प्रौद्योगिकी जैसे अन्य बड़े उद्योगों में भी देखी जा सकती है। साढ़े तीन लाख मेगावाट की कुल क्षमता वाले विद्युत उद्योग में से 75 हज़ार मेगावाट के विद्युत उत्पादन संयन्त्र अभी संकट में हैं, क्योंकि एक ओर तो देश में बिजली की कमी है वहीं पुरानी तकनीक वाले कोयला आधारित संयन्त्र 55% क्षमता पर ही काम कर रहे हैं क्योंकि इनके लिए अधिक उत्पादन और भी अधिक घाटा ही पैदा करता है। इसके कारण लगभग 1.77 लाख करोड़ रुपये के बैंक क़र्ज़ भी संकट में हैं, यद्यपि अभी इन्हें एनपीए घोषित नहीं किया गया है। इस्पात उद्योग की तो बहुत सारी कम्पनियाँ दिवालिया अदालत में पहुँची हुई हैं जिनकी कुल इस्पात उत्पादन क्षमता सालाना 2.20 लाख टन की है और इनकी वजह से कुल 3.26 लाख करोड़ रुपये की ऋण पूँजी संकट में है।

इस संकट की वजह भी मार्क्स द्वारा बताये गये उपरोक्त पूँजी के बढ़ते जैविक संघटन और परिणामस्वरूप मुनाफ़े की गिरती दर में देखी जा सकती है। 2014 के वार्षिक औद्योगिक सर्वेक्षण के अनुसार कपड़ा, वस्त्र, रसायन, वाहन, प्लास्टिक, जूते जैसे मुख्य विनिर्माण उद्योगों में 1982 की तुलना में प्रति रुपया निवेश पर श्रमिकों की संख्या घटकर मात्र दसवाँ हिस्सा रह गयी। इस बीच जहाँ श्रमिकों की उत्पादकता 8 गुना बढ़ीं, वहीं उनके वेतन में मात्र 50% वृद्धि हुई जिससे कुल उत्पादन के मूल्य में से श्रमिकों को प्राप्त होने वाला हिस्सा 35% से कम होकर 10% ही रह गया। इसी बात को एचडीएफ़सी बैंक की एक रिपोर्ट से ऐसे समझा जा सकता है कि 1990 के दशक में 1% जीडीपी बढ़ने के लिए जहाँ रोज़गार में 0.39% वृद्धि की ज़रूरत थी, वहीं यह दर घटकर 2000 के दशक में 0.23% और वर्तमान दशक में मात्र 0.15% रह गयी है अर्थात श्रम-शक्ति के बजाय पूँजीपति अभी मशीनों, तकनीक में अधिक पूँजी निवेश कर पूँजी के जैविक संघटन को बढ़ा रहे हैं।

यह बढ़ता पूँजी निवेश आया कहाँ से? 1991-92 में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में बैंक क़र्ज़ की कुल मात्रा उस समय के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की 19% थी। इसके बाद के पहले दशक 2001-02 तक यह बढ़कर 25% हो गयी। लेकिन उसके बाद 2003 से 2008 तक जो एक अस्थाई वृद्धि का दौर चला, उसमें बैंक क़र्ज़ की मात्रा तेज़ी से बढ़कर लगभग दोगुनी हो गयी। अर्थात इस आर्थिक विस्तार के मूल में बैंकों द्वारा औद्योगिक-व्यापारिक पूँजीपतियों को दिये गये भारी क़र्ज़ थे। इसके बाद जब वैश्विक आर्थिक संकट शुरू हुआ तो भारत में इसके प्रभाव को टालने के लिए और अधिक बैंक क़र्ज़ दिये गये। इस तरह कुल बैंक क़र्ज़ की मात्रा बढ़कर 2013-14 में जीडीपी का 53.4% हो गयी, जबकि इस दौरान जीडीपी की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हुई थी।

लेकिन मार्क्स द्वारा बताये गये नियम के अनुसार अचर पूँजी में बढ़ते इस निवेश के कारण पूँजीपतियों की लाभप्रदता में तेज़ गिरावट आनी शुरू हो गयी। 2007-08 में जहाँ पूरी अर्थव्यवस्था में कॉरपोरेट लाभ की दर जीडीपी का 10.7% थी, 2012-13 तक आते-आते यह घटकर 7.5% हो गयी। इस वर्ष जनवरी में संसद में प्रस्तुत आर्थिक सर्वे के अनुसार पिछले वर्ष यह मात्र 3.5% ही थी। पिछले 4 साल में सामने आये बैंक क़र्ज़ संकट को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। मुनाफ़े की घटती दर के परिणामस्वरूप 2013-14 का वर्ष आते-आते बहुत से पूँजीपतियों के लिए क़र्ज़ की किश्तें छोड़िए ब्याज़ की रक़म चुकाना भी मुश्किल हो गया। उसका नतीजा ही पिछले वर्षों में डूबते क़र्ज़ों और राइट ऑफ़ की रक़म में भारी वृद्धि है। इसी स्थिति को सँभालने और तबाह हुए पूँजीपतियों की कम्पनियों को बन्द करने या बचे हुए पूँजीपतियों के स्वामित्व में स्थानान्तरित करने के लिए ही दिवालिया अधिनियम भी लाना पड़ा है।

किन्तु आम मेहनतकश जनता के लिए इसके नतीजे क्या हैं? सबसे पहले तो बड़ी संख्या में कम्पनियों के दिवालिया होने से बैंकों का ऋण संकट गम्भीर हुआ है और इन कम्पनियों द्वारा लिये गये क़र्ज़ बड़ी मात्रा में डूब गये हैं जिससे बैंकिंग व्यवस्था में आये संकट से निपटने के लिए सरकार इन्हें बड़ी मात्रा में पूँजी दे रही है, जिसके लिए एक ओर अप्रत्यक्ष करों का भारी बोझ आम लोगों पर डाला जा रहा है, वहीं दूसरी ओर सरकार द्वारा चलाये जा रहे थोड़े-बहुत कल्याणकारी कार्यों पर ख़र्च में भारी कटौती की गयी है। दूसरे, बड़ी मात्रा में श्रमिक बेरोज़गार हुए हैं, और आगे रोज़गार कम हो रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति और उजरती श्रम पर आधारित पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में उत्पादक शक्तियों का विकास भी अब आर्थिक उन्नति नहीं, बल्कि विनाश का उपादान ही बनता है क्योंकि उत्पादन का मक़सद सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, बल्कि पूँजीपतियों का अधिकतम मुनाफ़ा है।

भारत में लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई

(पेज 1 से आगे)

की एक-एक कर तिलांजलि दे दी गयी है। नीतियों में मनमाने फेरबदल करके देशी-विदेशी कम्पनियों को लाखों करोड़ रुपये की सब्सिडी दी गयी है और देश के प्राकृतिक संसाधनों को लूटने की खुली छूट दे दी गयी है। इन सबका परिणाम यह है कि ग़रीबों को और अधिक ग़रीबी में धकेल दिया गया है, मज़दूरों की और ज़्यादा दुर्गति हुई है, जनता के कष्ट और बढ़े हैं, और पूरे देश में किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला लगातार बढ़ रहा है। "विकास" की इन नीतियों का नतीजा यह है कि देश की लगभग 46 करोड़ मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत, या 43 करोड़ मज़दूर असंगठित क्षेत्र में धकेल दिये गये हैं जहाँ वे बिना किसी क़ानूनी सुरक्षा के ग़ुलामों जैसी परिस्थितियों में काम करने के लिये मजबूर हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार 45 करोड़ भारतीय ग़रीबी रेखा के नीचे जी रहे हैं, जिसका अर्थ है कि वे भुखमरी की कगार पर बस किसी तरह ज़िन्दा हैं।

एक तरफ़ ग़रीबी लगातार बढ़ रही है, दूसरी ओर, उद्योगपतियों, राज नेताओं, ऊँचे सरकारी अधिकारियों, ठेकेदारों आदि की छोटी-सी आबादी के पास पैसों का पहाड़ लगातार ऊँचा होते जा रहा है। आम जनता की बढ़ती तबाही के बीच इस परजीवी जमात की ऐयाशियाँ बढ़ती जा रही हैं। कहने को भारत एक जनतन्त्र है, मगर 130 करोड़ आबादी वाले इस जनतन्त्र में 100 सबसे अमीर लोगों की कुल सम्पत्ति पूरे देश के कुल वार्षिक उत्पादन के एक चौथाई से भी अधिक है। इनसे नीचे करीब सवा करोड़ लोगों की एक परत है जिसके कब्ज़े में कुल सम्पदा का 50 प्रतिशत और हिस्सा चला जाता है। यानी करीब तीन-चौथाई सम्पदा (73%) इनकी मुट्ठी में है। वास्तव में यह तथाकथित जनतन्त्र इन्हीं की जेब में है। 'इकनॉमिक टाइम्स' के अनुसार विकास की दौड़ में मध्य वर्ग की एक ऊपरी परत भी शामिल है, जो कुल आबादी का लगभग 13 प्रतिशत हिस्सा है। मध्य वर्ग का यह हिस्सा कम्पनियों के विलासिता के सामानों को बेचने के लिए एक बड़ा बाज़ार मुहैया कराता है। **इस आबादी का एक बड़ा हिस्सा अमानवीय होने की हद तक माल अन्धभक्ति का शिकार है। करोड़ों मेहनतकशों के ख़ून-पसीने से पैदा होने वाले सामानों पर ऐश करने वाले समाज के इस हिस्से को देश की 85 प्रतिशत जनता की ग़रीबी और बर्बादी तथा दमन-उत्पीड़न से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ता, बल्कि यह समाज के दबे-कुचले हिस्से को देश की प्रगति में बाधा मानता है। इसी हिस्से में भाजपा के हिन्दुत्ववादी फासीवाद का समर्थन करने वाले भी बड़ी संख्या में मौजूद हैं।** हालाँकि अर्थव्यवस्था के संकट के कारण बढ़ती बेरोज़गारी और महँगाई आदि की मार अब मध्य वर्ग के इन हिस्सों को भी सताने लगी है।

कुछ और आँकड़ों पर नज़र डालने से असमानता की भयावह स्थिति और साफ़ हो जायेगी। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) की मानवीय विकास रिपोर्ट में भारत 188 देशों की सूची में खिसककर अब 131वें स्थान पर पहुँच गया है। दक्षिण एशियाई देशों में यह तीसरे स्थान पर, श्रीलंका और मालदीव जैसे देशों से भी पीछे चला गया है। हमारे देश में दुनिया के किसी भी हिस्से से अधिक, 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। एक तिहाई आबादी भूखी रहती है और यहाँ हर दूसरे बच्चे का वज़न सामान्य से कम है। वैश्विक भूख सूचकांक के आधार पर बनी 119 देशों की सूची में भारत 100वें स्थान पर है, उत्तर कोरिया और बंगलादेश जैसे देशों से भी नीचे।

भारत में बढ़ती असमानता को समझने के लिए थोड़ा पहले से कुछ आँकड़ों पर नज़र डालते हैं। इसी वर्ष प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों लुकास चांसल और थॉमस पिकेट्टी की रिपोर्ट पर आधारित 'मज़दूर बिगुल' के एक लेख (मुकेश असीम द्वारा) में हमने बताया था कि 1980 के दशक में जिन नवउदारवादी आर्थिक सुधारों की शुरुआत हुई उनका परिणाम यह हुआ है कि पिछले तीन दशकों के दौरान नीचे के 50% लोगों की आमदनी में मात्र 89% की वृद्धि हुई यानी यह दोगुनी भी नहीं हुई। इसके ऊपर के मँझले 40% को लें तो इनकी आमदनी में भी लगभग इतनी ही यानी 93% की वृद्धि हुई। लेकिन इनके ऊपर, शीर्ष के 10% की आमदनी 394% बढ़ गई यानी 5 गुना हो गयी। इसमें से भी अगर सबसे ऊपर के 1% को ही लें तो इनकी आय में 750% का इजाफ़ा हुआ अर्थात यह साढ़े आठ गुना हो गयी। इसका भी ऊपरी दसवाँ हिस्सा यानी सिर्फ 13 लाख की सँख्या लें तो इनकी आमदनी साढ़े 12 गुना बढ़ गयी। इसमें भी अगर ऊपर के सवा लाख को लें तो इनकी आय 19 गुना बढ़ गयी। अगर सबसे ऊपर के हज़ार-डेढ़ हज़ार अमीरों को ही देखें तो इनकी आमदनी 28 गुना से भी ज्यादा बढ़ गयी।

इसका नतीजा यह हुआ है कि नीचे की आधी जनसँख्या जिसका देश की कुल आमदनी में 1951 में 21% हिस्सा होता था वह 1982 में आते-आते थोड़ा बढ़कर 24% हो गया था। लेकिन पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाने वाले आर्थिक सुधारों के चलते इसके बाद इनकी हालत में तेज़ी से गिरावट आयी है। 2014 में इनका कुल आमदनी में हिस्सा घटकर 15% से भी कम हो गया है। अगर इसके ऊपर के 40% मध्यम-निम्न मध्यम तबके को लें तो 1951 में कुल आमदनी में इनका हिस्सा लगभग 43% होता था जो 1982 में थोड़ा बढ़कर 46% तक पहुँचा था अर्थात ये अगर अमीर नहीं थे तो पूरी तरह कंगाल भी नहीं थे। लेकिन नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने इनके ऊपर भी ज़बर्दस्त चोट की है। इस तबके में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी है या ये सेवा क्षेत्र में कम तनख्वाह वाली असुरक्षित, अस्थाई नौकरियाँ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। नतीजा यह हुआ है कि 2014 तक आते-आते कुल राष्ट्रीय आय में इनका हिस्सा घटकर मात्र 29% रह गया अर्थात पहले का सिर्फ दो तिहाई। नतीजा यह है कि महँगी शिक्षा और दिन-रात की कड़ी मेहनत द्वारा अमीर बनने के इनके सुनहरे सपने चकनाचूर हो रहे हैं और इस तबके के बहुत सारे लोग कंगाल होकर सर्वहारा बनने के कगार पर हैं।

लेकिन अगर शीर्ष के 10% लोगों अर्थात अमीर और उच्च मध्यम तबके को लें तो उन्हें इन 'सुधार' वाली नीतियों से भारी फ़ायदा हुआ है। 1982 में कुल राष्ट्रीय आय में इनकी हिस्सेदारी सिर्फ 30% अर्थात एक तिहाई के भी कम होती थी जो अब 2014 में लगभग दोगुनी होकर 56% पर पहुँच गई है। इसमें से भी अगर शीर्ष के 1% को ही लें तो 1982 में इनका हिस्सा मात्र 6% होता था जो अब लगभग चार गुना अर्थात 22% हो गया है। इसके असली मतलब को समझने के लिए यह भी जानना ज़रूरी है कि भारत में आय सम्बन्धी जानकारी 1922 में ब्रिटिश हुकूमत ने रखनी शुरू की थी। विदेशी ग़ुलामी का वह शासन घोर शोषण और ग़ैरबराबरी पर आधारित था और उस वक्त होने वाली कुल सामाजिक आय का एक बड़ा हिस्सा विदेशी शासकों और उनके देशी दलालों–राजाओं-ज़मींदारों या पूँजीपतियों द्वारा हथिया लिया जाता था। उस वक्त असमानता की हालत यह थी कि 1930 के दशक में कुल आमदनी का लगभग 21% भाग सबसे ऊपर के 1% अमीर लोगों के हिस्से में जाता था, जो अब बढ़कर 22% हो गया है। यानी इस देश की आम मेहनतकश मज़दूर-ग़रीब किसान जनता ने भारी कुर्बानियाँ देकर आज़ादी और उसके बाद के संघर्ष में जो भी बेहतरी के हक़ हासिल किये थे, उन्हें फिर से गँवा दिया है और आज हमारा समाज विदेशी गुलामी के वक्त से भी अधिक भयंकर ग़ैरबराबरी की खाई में जा पड़ा है।

इसी स्थिति को ऐसे भी समझ सकते हैं कि सबसे नीचे के 50% लोग 1951-80 के तीन दशकों में कुल आर्थिक वृद्धि का 28% भाग पा रहे थे लेकिन उसके बाद के 34 वर्षों (1980-2014) में आर्थिक वृद्धि में इनका हिस्सा घटकर मात्र 11% ही रह गया। इनके ऊपर वाले 40% पहले के 3 दशकों में कुल वृद्धि के 49% पर हक़ जमाये थे अर्थात इनकी स्थिति तुलनात्मक रूप से थोड़ी बेहतर हो रही थी। किन्तु बाद के 34 सालों में इनका हिस्सा गिरकर सिर्फ़ 23% रह गया - आधे से भी कम। वहीं इनके ऊपर वाले 9% का भाग 23% से बढ़कर 37% हो गया और शीर्ष 1% का हिस्सा बढ़कर 29% हो गया। इस प्रकार नीचे के 90% को इस आर्थिक वृद्धि का मात्र एक तिहाई (34%) प्राप्त हो रहा है जबकि इसका दो तिहाई (66%) भाग मात्र शीर्ष के 10% तबके के लोगों द्वारा कब्ज़ा लिया जा रहा है।

इस अध्ययन के नतीजे भी उन ख़बरों को ही सही सिद्ध कर रहे हैं जिनमें बताया गया है कि भारत दुनिया भर में सबसे अधिक असमानता वाले देशों में से एक है अर्थात यहाँ अमीर और गरीब के बीच सम्पत्ति और आय के अन्तर की खाई बहुत गहरी-चौड़ी हो चुकी है। पिछले दिनों ही भारत में संपत्ति के वितरण पर क्रेडिट सुइस की रिपोर्ट भी आई थी। इसमें बताया गया था कि 2016 में देश की कुल सम्पदा के 81% के मालिक सिर्फ 10% तबका है। इसमें से भी अगर शीर्ष के 1% को लें तो उनके पास ही देश की कुल सम्पदा का 58% है। वहीं नीचे की आधी अर्थात 50% जनसँख्या को लें तो उनके पास कुल सम्पदा का मात्र 2% ही है अर्थात कुछ नहीं। इनमें से भी अगर सबसे नीचे के 10% को लें तो ये लोग तो सम्पदा के मामले में नकारात्मक हैं अर्थात संपत्ति कुछ नहीं कर्ज का बोझा सिर पर है। इसी तरह बीच के 40% लोगों को देखें तो उनके पास कुल सम्पदा का मात्र 17% है। यहीं इस बात को भी समझ लेना जरूरी है कि यह असमानता पिछले कुछ वर्षों में बहुत तेज़ी से बढ़ी है। सिर्फ 6 वर्ष पहले 2010 में ऊपरी 1% तबके का कुल सम्पदा में हिस्सा मात्र 40% था। यानी सिर्फ़ 6 साल के दौरान सम्पत्ति में इनका हिस्सा 18% बढ़ गया। लेकिन यह आया कहाँ से? यह आया है नीचे के 90% की सम्पत्ति में से। अनेक बुर्जुआ अर्थशास्त्री यह दावा करते रहे हैं कि ऊपर से धन सम्पदा रिसकर नीचे आती है जिससे ग़रीब लोगों के जीवन में सुधार आता है। मगर आर्थिक "सुधारों" की सच्चाई यही है कि 90% जनता की सम्पत्ति और आय उनसे छीनकर उसे ऊपर के 10% शासक वर्ग की तिजोरियों में पहुँचाया जा रहा है।

इसी का नतीजा है कि आर्थिक 'सुधारों' के इन लगभग तीन दशकों में देश के अधिकांश श्रमिक, छोटे-सीमान्त किसानों और निम्न मध्य वर्ग के जीवन में किसी प्रकार की उन्नति होना तो दूर, बिल्कुल आधारभूत ज़रूरतों में भी गिरावट ही आयी है। राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो (जिसे अब मोदी सरकार ने बन्द ही कर दिया है) के मुताबिक इन वर्षों में शहर और गाँव दोनों में लोगों के भोजन में अनाज, दूध, अण्डे, मांस, फल-सब्ज़ी, विटामिन, कैल्शियम, आदि हर प्रकार के पोषक तत्वों की उपलब्ध मात्रा में कमी आयी है जिसके नतीजे में सभी लोगों ख़ास तौर पर महिलाओं-बच्चों में कुपोषण, ख़ून की कमी, कम वज़न और क़द न बढ़ने जैसे कुन्द वृद्धि के लक्षणों की तादाद बहुत तेज़ी से बढ़ी है। अधिकांश ग़रीब लोगों को दैनिक आवश्यकता के लायक न्यूनतम कैलोरी ऊर्जा भी उपलब्ध नहीं हो पा रही है। कुपोषण और रहने के अस्वच्छ-अस्वस्थ वातावरण की वजह से जो बीमारियाँ पहले के दशकों में कुछ हद तक कम हुई थीं वे भी भयंकर रूप से वापस आ रही हैं। दवा और इलाज की कमी से बड़ी तादाद में रोगी तड़प-तड़प कर मृत्यु का भी शिकार हो रहे हैं। हाल के दिनों में बच्चों में बढ़ते कुपोषण और अस्पतालों में बच्चों की बड़ी तादाद में मौतों की खबरें बेवजह ही नहीं हैं।

इन आर्थिक नीतियों से 90% मेहनतकश और निम्न मध्यवर्गीय जनता की आय और संपत्ति कम होने की वजह है इन सुधारों के द्वारा श्रमिकों के अधिकारों पर हमला। देशी-विदेशी निजी पूँजी निवेश को बढ़ावा देने हेतु संगठित श्रमिकों द्वारा हासिल काम के घंटों और वेतन के लिए सामूहिक समझौते के अधिकारों में भारी कटौती हुई है। अधिकाँश बड़े उद्योगों में स्थाई संगठित मजदूरों की छँटनी कर अस्थायी, ठेके वाले या अप्रेंटिस-प्रशिक्षु श्रमिकों से स्थाई मजदूरों के एक तिहाई से भी कम वेतन पर काम कराया जा रहा है। असंगठित उद्योगों और सबसे अधिक श्रमिकों को काम पर रखने वाले निर्माण और सेवा क्षेत्रों में तो सभी श्रमिक अस्थाई हैं और न्यूनतम वेतन या काम के घण्टों के कोई नियम ही लागू नहीं होते। कुल रोज़गार के 90% से अधिक आज इन्हीं असंगठित क्षेत्रों में हैं जहाँ 10 से 12 घंटे काम के बाद 5 से 10 हजार रुपये महीने ही मुश्किल से दिया जाता है। इस तरह अधिकांश श्रमिकों द्वारा उत्पादित सम्पदा मूल्य का अधिकांश मालिक पूँजीपतियों द्वारा हड़प लिया जा रहा है जिससे उनका मुनाफ़ा और सम्पत्ति लगातार बढ़ती जा रही है और मज़दूर कंगाली का जीवन गुज़ारने को विवश हैं। कृषि के क्षेत्र में भी पिछले सालों में महँगाई के मुकाबले खेतिहर मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में गिरावट हुई है। साथ ही धनी किसानों के साथ प्रतियोगिता में न टिक पाने से अधिकांश छोटे-सीमान्त किसान बरबाद हो कर कर्ज के बोझ से दब रहे हैं, आत्महत्याएँ कर रहे हैं या खेती छोड़कर शहरी मज़दूरों की कतारों में शामिल हो रहे हैं।

अब आइये, भारतीय अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख क्षेत्रों पर नज़र डालते हैं। सेवा क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा हिस्सा - लगभग 59% है। लेकिन इसमें कुल श्रमिकों के सिर्फ 26% को रोज़गार प्राप्त है। इसे समझने के लिए कुछ और देशों के साथ तुलना आवश्यक है। अमेरिका और ब्रिटेन में सेवा क्षेत्र अर्थव्यवस्था का 80% है और इतने ही लोग इसमें रोज़गार पाते हैं। ब्राज़ील, मेक्सिको के आँकड़े भी लगभग ऐसे ही हैं - जितना हिस्सा उतने रोज़गार। चीन में यह अर्थव्यवस्था का 49% है और रोज़गार 42%। इसका अर्थ है कि भारत में सेवा क्षेत्र में उत्पादित मूल्य की तुलना में बहुत कम लोगों को रोज़गार मिलता है अर्थात कम मज़दूर बहुत अधिक उत्पादन करते हैं। यानी इसमें मज़दूरों का शोषण बहुत अधिक है। यह बात कई लोगों को अजीब लग

(पेज 12 पर जारी)

तेल की लगातार बढ़ती क़ीमत : वैश्विक आर्थिक संकट और मोदी सरकार की पूँजीपरस्त नीतियों का नतीजा

(पेज 1 से आगे)

विकास और जनता के कल्याण मसलन शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार आदि के लिए किया जा रहा है। यह सरासर झूठ है। इस झूठ का भण्डाफोड़ विस्तार से लेख में आगे करेंगे। इसके अलावा भक्तों का एक प्रचार यह भी रहा है कि यूपीए सरकार ईरान पर 43,000 करोड़ का क़र्ज़ा छोड़कर गयी है और महान 'मोदी जी' को ये क़र्ज़ चुकाना पड़ रहा है। इस वजह से ही देश के लिए पेट्रोल-डीज़ल की क़ीमत में वृद्धि हुई है। इस झूठ और कुतर्क का भी हम आगे पर्दाफ़ाश करेंगे। इसके अलावा सब्सिडी और तेल कम्पनी के घाटे का मिथक जानबूझकर फैलाया जाता है और हमें यह बताया जाता है कि कैसे सरकार और पूँजीपति आम ग़रीब जनता पर अहसान करते हैं और घाटा उठाकर सस्ते में पेट्रोल, डीज़ल और रसोई गैस देते हैं। इस भ्रम का भी पर्दाफ़ाश हम आगे करेंगे।

अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत में उछाल और अस्थिर अन्तरराष्ट्रीय भू-राजनीतिक संकट : इतिहास और कारण

इस साल 24 अप्रैल की सुबह, ब्रेण्ट क्रूड की क़ीमत 75 डॉलर प्रति बैरल से ऊपर पहुँच गयी जो 2014 के बाद सबसे ऊँचे स्तर पर है और तेल की ऊँची क़ीमतों के युग की वापसी के संकेत दे रहा है। 2014 के अन्तिम तिहाई में कच्चे तेल की क़ीमत में अचानक से तेज़ गिरावट आयी थी। एक महीने के भीतर कच्चे तेल की क़ीमत 110 डॉलर प्रति लीटर से 50 डॉलर प्रति लीटर से भी कम पर पहुँच गयी। अमेरिकी शेल उद्योग ने तेल का उत्पादन बहुत तेज़ कर दिया और तेल निकालने की तकनीक में सुधार की वजह से कच्चे तेल के लागत मूल्य में कमी आ गयी। नतीजतन, सऊदी अरब और दूसरे ओपेक देशों को तेल बाज़ार की मूल्य प्रतियोगिता में टिके रहने और अपने बाज़ार को बनाये रखने के लिए तेल की आपूर्ति और तेज़ कर दी। इस कारण बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत में ज़बरदस्त गिरावट देखने को मिली।

सऊदी अरब की वित्त व्यवस्था पर इस का गहरा असर पड़ा। सऊदी अरब एक प्रमुख तेल उत्पादक और निर्यातक है और सरकार की राजस्व की निर्भरता तेल के व्यापार पर टिकी है। तेल की क़ीमत कम होने की वजह से जनता को दी जाने वाली सुविधाओं के लिए राजस्व के एक हिस्से के रूप में सब्सिडी क़ायम रखना मुश्किल हो रहा था। साथ ही सऊदी अरब पर राष्ट्रीय ऋण बढ़ता जा रहा था। इसलिए सरकार ने सरकारी कम्पनी सऊदी अरामको के 5 प्रतिशत हिस्से को शेयर बाज़ार में सार्वजानिक विनिवेश का निर्णय लिया। सऊदी अरामको सऊदी अरब के बजट का 80 प्रतिशत इस कम्पनी के राजस्व से ही मिलता है। इस विनिवेश को अधिक ख़रीददार का मिलना या यूँ कहें कि इसके शेयर में उछाल तेल की क़ीमतों की वृद्धि पर निर्भर करता है। फ़ाइनेंशियल टाइम्स के एक आकलन के अनुसार - अगर कच्चे तेल की क़ीमत 64 डॉलर प्रति बैरल से बढ़कर 93 डॉलर प्रति बैरल तक पहुँच जाती है तो सऊदी अरामको का मूल्यन 1.1 ट्रिलियन डॉलर से बढ़कर 1.5 ट्रिलियन डॉलर हो जायेगा। यानी इस संकट से उबरने के लिए सऊदी अरब को तेल की क़ीमत में बढ़ोतरी की ज़रूरत थी, जिसके लिए तेल की आपूर्ति को कम करना ज़रूरी था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सऊदी अरब ने नवम्बर 2016 को रूस के साथ एक गँठजोड़ किया। रूस भी एक बड़ा तेल उत्पादक और निर्यातक देश है। दिसम्बर 2016 को समझौता हुआ कि वे 5,58,000 बैरल प्रति दिन तेल की आपूर्ति कम करेंगे, इसमें से रूस 300,000 बैरल प्रति दिन के हिसाब से कम करेगा। इसके अलावा दूसरे ओपेक देशों ने भी 1.2 मिलियन बैरल प्रतिदिन की तेल की आपूर्ति कम की है।

तेल के क़ीमत में वृद्धि का दूसरा बड़ा कारण वेनेज़ुएला का राजनीतिक और सामाजिक संकट तथा ट्रम्प द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध है। 2014 के शेल उद्योग परिघटना की वजह से तेल की क़ीमत में भारी गिरावट आयी। तेल के कारोबार पर टिकी हुई वेनेज़ुएला की अर्थव्यवस्था चरमराने लगी जिस कारण कल्याणकारी नीतियों को जारी रखना मुश्किल हो गया व मादुरो की लोकप्रियता कम होने लगी। इस वजह से वेनेज़ुएला अपने तेल निर्यात में कमी कर उसकी क़ीमत में फिर से वृद्धि करने की कोशिश की। इसी बीच, हाल में हुए चुनाव में मादुरो फिर से जीत गया पर ट्रम्प प्रशासन ने चुनाव को धाँधली से जीता हुआ और अवैध क़रार दिया और वेनेज़ुएला द्वारा प्रायोजित तेल आधारित क्रिप्टोकरेंसी पर प्रतिबन्ध लगा दिया। नतीजतन वेनेज़ुएला के तेल निर्यात में कमी आ गयी है। दो साल में तेल निर्यात 2.2 मिलियन बैरल प्रति दिन से घटकर इस साल फ़रवरी तक 1.54 मिलियन डॉलर प्रति दिन तक आ गया। यह भी तेल की क़ीमत के उछाल का एक बड़ा कारण बना।

तेल की क़ीमत में उछाल का तीसरा बड़ा कारण ट्रम्प द्वारा ईरान से परमाणु डील को रद्द कर उस पर फिर से प्रतिबन्ध लगा देना है, इससे ईरान द्वारा किये जाने वाले तेल निर्यात में कमी आयी है। यह मध्यपूर्व में रूस-ईरान-सीरिया-हिजबुल्ला की मजबूत होती अवस्थिति के खिलाफ़ अमरीका द्वारा उठाया गया क़दम है। कुल मिलाकर, तेल एक राजनीतिक माल है जो अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी सरफुटव्वल प्रतियोगिता का एक मैदान बना रहता है। और जब तक पूँजीवाद और साम्राज्यवाद रहेगा, ऐसा होने की सम्भावना बनी रहेगी।

भारत में मोदीजी के कारनामे और तेल का खेल

2014 में जब मोदी चुनाव जीत कर आया, ठीक उसी समय शेल परिघटना घटित होती है और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत में भारी गिरावट आती है। तेल की क़ीमत 110 डॉलर प्रति बैरल से घटकर 45 डॉलर प्रति बैरल के आस-पास आ जाती है। नतीजतन घरेलू बाज़ार में भी पेट्रोल और डीज़ल की क़ीमतों में कमी आती है, लेकिन यह कमी कच्चे तेल की क़ीमत में कमी के अनुपात से बेहद कम होती है। इस समय ही एक चुनावी सभा को सम्बोधित करते हुए झूठ-सम्राट मोदी ने कहा - "भाइयो बहनो! पेट्रोल के दाम कम हुए कि नहीं हुए! डीज़ल के दाम कम हुए कि नहीं हुए! आपका फ़ायदा हुआ कि नहीं हुआ! अगर मेरे नसीब से देश की जनता को फ़ायदा होता है तो इससे अच्छा नसीब की बात और क्या होगी"। अब क्या हमें मोदीजी से यह सवाल नहीं पूछना चाहिए कि "अब तो मोदी जी आपकी ही बदनसीबी से पेट्रोल, डीज़ल के दाम बढ़ रहे हैं! अगर अब आपकी बदनसीबी जनता का नुक़सान कर रही है तो इस बदनसीबी से पीछा छुड़ा लेना चाहिए न!" ख़ैर मोदीजी इस मुद्दे पर मौन हैं। अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में क़ीमत कम होने के बावजूद जनता को उतनी राहत इसलिए नहीं मिली, क्योंकि मोदी सरकार ने एक्साइज़ और कस्टम ड्यूटी या यूँ कहें कि जनता से पेट्रोलियम उत्पाद पर टैक्स बहुत बढ़ा दिया है। मोदी सरकार के आने के समय पेट्रोल और डीज़ल पर एक्साइज़ ड्यूटी 9.48 रुपया और 3.56 रुपया क्रमशः थी, जोकि आज बढ़कर 21.48 रुपया और 17.33 रुपया हो गयी है। भारत उन देशों में से एक है, जहाँ पेट्रोल और डीज़ल पर टैक्स दुनिया में सबसे ज़्यादा है। जनता को महँगा तेल बेचकर वसूले गये टैक्स का इस्तेमाल पूँजीपतियों को टैक्स माफ़ी करने में किया जा रहा है। देखते हैं कि भारत में पड़ोसी देशों के मुकाबले पेट्रोल-डीज़ल की क़ीमत कितनी ज़्यादा है :

(5 जून की क़ीमत पर , रुपया/लीटर)

	पेट्रोल		डीजल	
	वर्तमान मूल्य	तीन महीने में परिवर्तन	वर्तमान मूल्य	तीन महीने में परिवर्तन
भारत	81.19	8.5%	71.59	10.7%
पाकिस्तान	51.01	3.8 %	57.44	3.1%
श्रीलंका	63.04	15%	46.43	14.7%
नेपाल	70.6	2.7 %	59.36	14.5%
बांग्लादेश	70.6		52.12	

उपरोक्त तालिका से आप देख सकते हैं कि सापेक्षत: ग़रीब पड़ोसी देशों में पेट्रोल और डीज़ल की क़ीमतें भारत के मुकाबले कम हैं। इसमें एक बात और जोड़ देना ज़रूरी है कि श्रीलंका भारत से पेट्रोल और डीज़ल आयात करता है, फिर भी वहाँ पर क़ीमत भारत से कम है। आप इसी बात से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मोदी सरकार जनता से कितना टैक्स वसूल रही है।

अगर हम अमीर देशों से तुलना करें तो हम पायेंगे कि पेट्रोल, डीज़ल की क़ीमतें और प्रति व्यक्ति आय का अनुपात भारत में वहाँ से 40 गुने से अधिक है। मतलब भारत के लोग अपनी आय की तुलना में पेट्रोल-डीज़ल पर कई गुना ज़्यादा कर देते हैं।

मोदी और भक्तों का झूठ कि पेट्रोल और डीज़ल से अर्जित राजस्व मूलभुत संरचना के विकास और जन कल्याण कार्यों में लगाया जा रहा है!

मोदी और इसके भक्तों के मुँह से ये अक्सर सुनने को मिलता है कि पेट्रोल और डीज़ल की क़ीमतें देशहित में बढ़ायी जा रही हैं और आप इस वृद्धि की शिकायत न करें और देश के लिए थोड़ी कुर्बानी करें। ये पैसा वापस देश के "विकास" के लिए ही ख़र्च होता है, मूलभूत संरचना का निर्माण हो रहा है जोकि मोदीजी से पहले कभी नहीं हुआ! 1200 वर्षो की गुलामी के बाद अब पहली बार पिछले 4 वर्षो से देश फिर से विश्व विजयी और जगत गुरु बनने की ओर अग्रसर है। यहाँ पहली बार गाँव में बिजली पहुँच रही है, सड़क बन रही है, पुल का निर्माण हो रहा है, आपके बच्चों के लिए शिक्षा का इन्तज़ाम किया जा रहा है, स्वास्थ्य पर ख़र्च किया जा रहा है। भक्त नाक भसोड़ते हुए कहते हैं कि इतना पैसा क्या राहुल गाँधी के नानीघर इटली (वैसे भक्तों को शायद पता नहीं है कि इटली मुसोलिनी का यानी इनके आकाओं का भी नानीघर रहा है!) से आयेगा! ऊपर से कांग्रेस की पिछली सरकार में ईरान का 43,000 करोड़ का क़र्ज़ा हमारे ऊपर थोप दिया है और देश का नाम पूरी दुनिया में खराब कर दिया। आखिर महान मोदीजी को ये क़र्ज़ चुकाना पड़ रहा है, इसके लिए थोडा सब्र भी नहीं कर सकते! आइए साथियो, हम एक-एक कर मोदी के कुकर्म और भक्तों के कुतर्क की पोल खोलते हैं। आइए देखते हैं कि कैसे गोएबेल्स की ये औलादें झूठ और फ़रेब के प्रचार में अपने बाप से भी कई गुना आगे निकल गये हैं!

आइए सबसे पहले हम देखते हैं कि केन्द्र सरकार के राजस्व में पेट्रोलियम सेक्टर से पिछले 4 वर्षों में कितनी कमाई हुई है। पेट्रोलियम सेक्टर से मोदी कार्यकाल में 5 लाख करोड़ की अतिरिक्त कमाई हुई है, मतलब अगर मोदीकाल के 4 वर्षों के पेट्रोलियम सेक्टर से प्राप्त राजस्व को जोड़ दें तो यह कमाई पिछले 4 वर्षों के कुल प्राप्त राजस्व से 5 लाख करोड़ अधिक है। आइए हम इसे निम्न अंक तालिका से समझने का प्रयास करते हैं।

पेट्रोलियम सेक्टर से कस्टम और एक्साइज़ ड्यूटी की वसूली

वित्त वर्ष	कुल राशि (करोड़ रुपये में)
2011-12	95,229
2012-13	98,603
2013-14	1,04,163
2014-15	1,22,926
2015-16	2,13,995
2016-17	3,00,295
2017-18 (अप्रैल-दिसम्बर)	2,30,807

(स्रोत - पेट्रोलियम मन्त्रालय)

हम साफ़तौर पर देख सकते हैं कि पेट्रोलियम सेक्टर से मोदी काल में सरकार की आमदनी में पहले के मुकाबले 270-300 प्रतिशत की भारी वृद्धि हुई है। क्या इतना सारा पैसा सरकार में मूलभूत संरचना के विकास में लगाया है ? आइए इसकी भी हम जाँच करते हैं। हम निम्न तालिका में देखेंगे कि मूलभूत संरचना के निर्माण में ख़र्च की वृद्धि की दर कितनी रही है। क्या इस दर में वृद्धि भी उसी हिसाब से हुई है, जिस हिसाब से सरकार ने पेट्रोलियम से टैक्स की वसूली की है या फिर कुछ गोलमाल है!

केन्द्र सरकार द्वारा मूलभूत पूँजी में ख़र्च की प्रवृत्ति

वित्तीय वर्ष	ख़र्च (करोड़ रुपये में)	वृद्धि प्रतिशत
2015-16	2,37,718	
2016-17	2,61,416	9.9
2017-18	2,73,445	4.6
2018-19	2,91,944(BE*)	6.7

औसत वृद्धि -7.06%

(स्रोत - केन्द्रीय बजट, *Budget Estimate)

साफ़ है कि मूलभूत संरचना में ख़र्च करने की बात सफ़ेद झूठ है। एक बात और ग़ौर करने वाली है कि सरकार ने 2017-18 के बजट में आवण्टित पैसों

(पेज 6 पर जारी)

विश्व बैंक की आँखों में चुभते श्रम-क़ानून

इतिहास के रंगमंच पर जब से मज़दूर वर्ग की भूमिका का आगाज़ हुआ है, यह निरन्तर बुर्जुआ वर्ग के साथ एक संघर्ष में जुटी रही है। इस संघर्ष में अपनी एकता के बल पर छोटी-बडी लड़ाइयों में जीत हासिल करते हुए मज़दूर वर्ग ने कई बेहद महत्वपूर्ण अधिकार क़ानूनों की आड़ में पूँजीपति वर्ग से हासिल कर लिये। जिसमें आठ घण्टे का कार्य दिवस, यूनियन खड़ी करने का अधिकार, स्वास्थ्य और दुर्घटना बीमा जैसे कई और क़ानून भी गिने जा सकते हैं। अतीत में जब विश्व मज़दूर वर्ग का आन्दोलन अपने चरम पर था, तब ऐसे कई क़ानून न केवल लागू करवाये गये बल्कि पूरी सतर्कता के साथ इनकी निगरानी भी की गयी। लेकिन पूँजीपति वर्ग की आँखों में मज़दूरों के ये जायज़ अधिकार हरदम चुभते रहे और इनको ख़त्म करने की उनकी कोशिशें लगातार जारी रहीं। उनकी आँखों की इस चुभन की रंगत विश्व बैंक की इस वर्ष की विश्व विकास रिपोर्ट (वर्ल्ड डिवेलपमेण्ट रिपोर्ट) के जारी किये गये मसौदे में साफ़ देखी जा सकती है।

अभी हाल ही में जारी किये गये इस मसौदे में विश्व बैंक ने पूँजीपति वर्ग को इन "पुराने पड़ चुके श्रम क़ानूनों" से मुक्त करने की दुहाई दी है और मज़दूरों की सुरक्षा को लेकर "गहरी चिन्ता" व्यक्त की है। इस रिपोर्ट में विश्व की सभी सरकारों को एक नयी व्यवस्था अपनाने का आह्वान किया है, जिसमें न्यूनतम वेतन और सामाजिक सुरक्षा जैसी धारणाओं को ख़त्म करके यूनिवर्सल बेसिक इनकम (व्यापक मूलभूत आमदनी), सामाजिक बीमा (सामाजिक सुरक्षा नहीं) व वेतन को उत्पादकता के साथ जोड़ने जैसी मज़दूर विरोधी और पूँजीपति वर्ग के पक्ष में झुकने वाली धारणाओं को आगे लाने को कहा गया है। और साथ ही "औपनिवेशिक दौर के पुराने पड़ चुके श्रम क़ानूनों" को भी ख़त्म करने पर ज़ोर दिया है।

न्यूनतम वेतन अथवा सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित क़ानूनों के तहत पूँजीपतियों को मज़दूरों की आमदनी और जीवन-परिस्थिति को सुधारने के लिए मजबूर किया गया था। विश्व बैंक का यह मानना है कि इन क़ानूनों से पूँजीपतियों के मुनाफ़े "कम" होते हैं और कारोबार करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए पूँजीपतियों को इस जंजाल से मुक्ति दिलाने के लिए न्यूनतम वेतन को ख़त्म कर यूनिवर्सल बेसिक इनकम और सामाजिक सुरक्षा की बजाय सामाजिक बीमे की ओर आगे बढ़ने के लिए विकसित और ख़ासकर भारत जैसे विकासशील देशों की सरकारों को कुछ दिशा-निर्देश दिये हैं। विश्व बैंक पहले भी क़दम-क़दम पर विकासशील देशों को निजीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ लागू करने और श्रम क़ानूनों को कमज़ोर करने या ख़त्म करने जैसे निर्देश देता रहा है। हमारे देश में पिछले कई सालों से इन आदेशों के पालन का काम अपनी चरम गति से चल रहा है। सरकार चाहे किसी भी पार्टी की हो, मज़दूरों के अधिकारों पर डाका डालने और श्रम क़ानूनों को कमज़ोर करने या भंग करने व अपने मालिकों को ख़ुश करने में किसी ने भी कोई क़सर नहीं छोड़ी। कांग्रेस पार्टी के मनमोहन सिंह के वित्त मन्त्री और फिर प्रधानमन्त्री रहते हुए शुरू किये गये हमले भाजपा की सरकार ने और भी आक्रामक रूप से आगे बढ़ाये हैं।

यूनिवर्सल बेसिक इनकम और सामाजिक बीमे की इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए बड़े स्तर पर नागरिकों के निजी और वित्तीय डाटा की ज़रूरत होगी, जिसकी मदद से आबादी की पहचान करना और सही अथवा अपेक्षित आबादी को टार्गेट करना आसान बनाया जा सके। यही वजह है कि यूपीए सरकार के प्रिय प्रोजेक्ट 'आधार कार्ड' का "पूर्ण विरोध" जताने वाली भाजपा सरकार भी सत्ता में आते ही इस प्रोजेक्ट की जड़ें दूर-दूर तक फैलाने में जी-जान से जुटी है। लगातार बार-बार जिस 'डिजिटल या कैशलेस लेनदेन' का प्रचार किया जा रहा है, उसको भी इसी सिलसिले की एक कड़ी के तौर पर देखा जाना चाहिए।

सीधे शब्दों में कहना हो तो कहा जा सकता है कि यूनिवर्सल बेसिक इनकम व सामाजिक बीमे की इस धारणा का अर्थ है मज़दूरों के वेतन और सुरक्षा का दायित्व पूँजीपतियों के कन्धों से उतार कर ख़ुद मज़दूरों के सिर ही डाल दिया जाये और पूँजीपतियों को श्रम का ख़ून चूसने, आम मेहनतकश लोगों द्वारा भरे गये करों को लूटकर मुनाफ़ा (जो कि सार्वजनिक न होकर नंगे रूप में पूर्णतया निजी होता है) दोहने की खुली छूट दे दी जाये। विश्व विकास रिपोर्ट के मसौदों में यह बात साफ़तौर से दिखायी देती है कि वेतन और सामाजिक सुरक्षा का दायित्व सरकारें आम जनता से वसूल किये गये करों के दम पर निभायें। मज़दूरों के स्वास्थ्य और दुर्घटना के बीमे आदि (फिर चाहे वह सब्सिडी के रूप में ही क्यों न देने पड़ें) का भुगतान राजकीय कोष से किया जाये, न कि पूँजीपतियों की जेब से। इन नीतियों को लागू करने में रुकावट बनने वाले श्रम क़ानूनों को ख़त्म करने का काम और तेज़ किया जायेगा। भारत सरकार पहले ही इस दिशा में अपने क़दम उठा चुकी है, श्रम क़ानूनों में सुधार करने के नाम पर नये 'श्रम कोड' बनाये जा चुके हैं (इस काम के लिए विश्व बैंक की इस रिपोर्ट में भारत सरकार की तारीफ़ भी की गयी है।) और इनको लागू करवाने के लिए प्रशासन किसी भी हद तक जा सकता है।

इन परिस्थितियों में नोम चोमस्की का यह उद्धरण कितना प्रासंगिक है : "आधुनिक राजकीय पूँजीवाद का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि ख़र्च और जोख़िम का, जहाँ तक सम्भव हो समाजीकरण रहा है, जबकि मुनाफ़े का निजीकरण।"

– सवजीत

भारत में लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई

(पेज 8 से आगे)

सकती है क्योंकि अक्सर सेवा क्षेत्र के सफ़ेद कालर कर्मचारियों को अधिक वेतन का बहुत प्रचार सुना जाता है। लेकिन यह अधिक वेतन मात्र कुछ लाख की संख्या तक सीमित है और आईटी, बैंक-वित्त, इ-कॉमर्स/कूरियर डिलीवरी वाले कर्मियों से लेकर होटल-रेस्टोरेंट तक के अधिकांश निचले स्तर के कर्मचारी उतना वेतन नहीं पाते। यहाँ कोई यूनियन नहीं होती, पेंशन-बोनस नहीं देना होता, मेडिकल, आदि सुविधाएँ अत्यन्त सीमित हैं, नौकरी से निकालते वक्त भी संगठित विनिर्माण उद्योगों की तरह वीआरएस आदि जैसी कोई एकमुश्त रकम नहीं देनी पड़ती। दूसरी बात है कि इनमें काम के घण्टे बहुत अधिक हैं - 10-12 घण्टे के साथ छुट्टी के दिन भी काम करना यहाँ आम बात है। इसलिए इन क्षेत्रों के मज़दूर अपने मालिकों के लिए विनिर्माण क्षेत्र के मुकाबले अधिक अतिरिक्त मूल्य अर्थात मुनाफ़ा कमा कर देते हैं। यही वजह है कि न सिर्फ़ बहुत से भारतीय पूँजीपति इस क्षेत्र को निवेश के लिए बेहतर मानते हैं बल्कि अमेरिका-यूरोप से भी सेवा क्षेत्र का बहुत सारा काम भारत में आया है क्योंकि सस्ते भारतीय श्रमिकों के शोषण से इसमें अधिक मुनाफ़ा है।

विनिर्माण या मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र कुल घरेलू उत्पाद में लगभग 28% का योगदान करता है और इसमें कुल श्रमबल के लगभग 22% को रोज़गार मिलता है। इस क्षेत्र को गति देकर बड़ी सँख्या में नये रोज़गार सृजित करना मोदी सरकार का एक प्रमुख नीतिगत ऐलान था। मेक इन इंडिया, स्टार्ट अप, स्किल इंडिया जैसे कार्यक्रम इसी का अंग हैं। सेवा क्षेत्र की तरह ही यहाँ भी श्रम क़ानूनों में 'सुधार' के नाम पर श्रमिकों के संगठित होने के अधिकारों में कटौती, काम के घण्टों की सीमा हटाना, मालिकों को जब चाहे बिना मुआवज़े श्रमिक को निकालने का अधिकार देना, ब्याज दरों में कमी कर पूँजी लागत को घटाना, सस्ती ज़मीन उपलब्ध कराना, पर्यावरण की सुरक्षा के नियमों में ढील देना, आदि वह प्रमुख तरीके हैं जिनके द्वारा मोदी देशी-विदेशी पूँजी को श्रमिकों से अधिक अधिशेष और मुनाफा प्राप्त करने का भरोसा देकर उन्हें उद्योगों में नये पूँजी निवेश के लिए आमन्त्रित कर रहे हैं। लेकिन अर्थव्यवस्था का संकट ऐसा है कि बाज़ार में उपभोक्ता माँग बढ़ नहीं रही और कारख़ानों की स्थापित क्षमता का भी मात्र 70-72% इस्तेमाल हो रहा है। ऐसे में ब्याज दरों को 6 वर्ष के निम्नतम स्तर पर लाने के बाद भी उद्योगों में नया पूँजी निवेश होता दिखायी नहीं दे रहा है और नया रोज़गार सृजन लगभग बन्द हो चुका है। बल्कि नोटबंदी के बाद तो कम से कम 15 लाख नौकरियाँ ख़त्म हो चुकी हैं।

कृषि क्षेत्र अर्थव्यवस्था में सबसे कम योगदान - 14% - करता है लेकिन इसमें सबसे अधिक 52% लोग लगे हुए हैं। इसलिए इसमें संलग्न अधिकाँश मज़दूरों-किसानों की आय बेहद कम है और वे जीवन की समस्त मूल ज़रूरतों से वंचित रहते हुए बस किसी तरह ज़िन्दा हैं। जिन राज्यों-क्षेत्रों में हरित क्रान्ति के बाद कृषि में तकनीकी विकास तुलनात्मक रूप से अधिक हुआ था वहाँ अधिक पूँजी निवेश की आवश्यकता के चलते अधिसंख्य छोटे-सीमान्त किसानों के लिए कृषि घाटे का सौदा बन चुकी है और ये किसान और खेत मज़दूर कम आय में गुज़ारा न कर पाने के चलते कर्ज में डूबते चले जा रहे हैं। आन्ध्रप्रदेश-तेलंगाना जैसे राज्यों में तो कुल ग्रामीण आबादी का 93% तक कर्ज में डूबा है। इनमें भी लगभग सारे ही खेत मज़दूर-छोटे किसान कर्ज में हैं जबकि बड़े धनी किसान कम तादाद में। दूसरे, बड़े किसानों द्वारा लिये गये कर्ज बैंकों की कम दरों पर कृषि में विकास हेतु पूँजी निवेश के लिए हैं जबकि ग़रीब किसान-मज़दूरों के ज़्यादातर कर्ज उपभोग या बीमारी जैसे संकटों से निपटने हेतु सूदखोरों-धनी किसानों से भारी ब्याज दरों पर लिये जाते हैं। इसीलिए ग्रामीण क्षेत्र में आत्महत्या के अधिकांश मामले इन्हीं ग़रीब किसान-मज़दूरों के तबके के हैं। हाल के वर्षों में धान, गेहूँ, गन्ना, आदि सभी फसलों की बुआई-रोपाई, निराई-गुड़ाई से लेकर कटाई-छिलाई, पेराई में मशीनीकरण की रफ़्तार जिस तरह तेज़ हुई है, उससे पूँजी निवेश की ज़रूरत बढ़ेगी और कृषि में श्रमिकों की माँग कम होगी। कुछ किसान श्रम की कम आवश्यकता तथा अधिक पूँजीनिवेश के सहारे अधिक जमीन पर कृषि कार्य में सक्षम होंगे - खरीदकर या पट्टे/ठेके पर लेकर - तथा कम लागत और परिमाण की मितव्ययता से अधिक लाभ कमा पायेंगे किंतु अधिकांश मज़दूर-किसानों का आर्थिक संकट और बढ़ने वाला है, और गाँवों से शहरों की ओर पलायन तेज़ होगा।

नतीजा यह कि तमाम मनभावन नारों और लुभावनी स्कीमों के बावजूद मोदी सरकार के पास ऐसी कोई नीति नहीं है जो हमारे मुल्क की बहुसंख्यक आबादी यानी मज़दूरों, छोटे किसान और निम्न मध्य तबके के जीवन में कोई सुधार ला सके। यह निहायत बेशर्मी से पूँजीपति घरानों का मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए उन्हें तमाम तरह के फ़ायदे पहुँचाने के लिए काम करती रहेगी और इससे पैदा होने वाले असन्तोष को काबू में करने के लिए जनता को हिन्दू-मुस्लिम, गाय-गोबर के नाम पर आपस में बाँटती-लड़ाती रहेगी। आतंकवाद-माओवाद-पाकिस्तान का हौआ खड़ा करेगी ताकि लोग अपने जीवन पर मँडराते सबसे भयावह ख़तरों को देख ही नहीं सकें, अपनी वास्तविक समस्याओं पर लड़ने के लिए एकजुट ही न हो सकें और आपस में कटते-मरते रहें। इन मंसूबों को लोगों के सामने उजागर करना और अपने वाजिब हक़ माँगने के लिए उन्हें एकजुट और संगठित करना आज की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

हत्यारे वेदान्ता ग्रुप के अपराधों का कच्चा चिट्ठा

– पराग वर्मा

पिछली 22 मई को तमिलनाडु पुलिस ने एक रक्तपिपासु पूँजीपति के इशारे पर आज़ाद भारत के बर्बरतम सरकारी हत्याकाण्डों में से एक को अंजाम दिया। उस दिन तमिलनाडु के तूतुकोडि (या तूतीकोरिन) जिले में वेदान्ता ग्रुप की स्टरलाइट कम्पनी के दैत्याकार कॉपर प्लाण्ट के विरोध में 100 दिनों से धरने पर बैठे हज़ारों लोग सरकारी चुप्पी से आजिज़ आकर ज़िला कलेक्ट्रेट और कॉपर प्लाण्ट की ओर मार्च निकाल रहे थे। पुलिस ने पहले जुलूस पर लाठी चार्ज किया और उसके बाद गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। सादी वर्दी में बसों के ऊपर तैनात पुलिस के निशानेबाज़ों ने एसॉल्ट राइफ़लों से निशाना साधकर प्रदर्शनकारियों को गोली मारी। आन्दोलन की अगुवाई कर रहे चार प्रमुख नेताओं को निशाना साधकर गोली से उड़ा दिया गया। सरकार के मुताबिक 13 प्रदर्शनकारी गोली से मारे गये और दर्जनों घायल हुए। हालाँकि स्थानीय लोगों का कहना है कि मरने वालों की तादाद इससे कहीं ज़्यादा थी। पुलिस वालों के वहशीपन का आलम यह था कि एक युवा लड़की के मुँह में बन्दूक डालकर उसे गोली से उड़ा दिया गया। पूरे देश और दुनिया में चौतरफ़ा विरोध और भर्त्सना होने के बावजूद अगले कई दिनों तक पुलिस तूतुकोडि में दमन और उत्पीड़न का ताण्डव रचती रही। लोगों को उनके घरों से घसीटकर पीटा गया। सड़कों-गलियों में लोगों को दौड़ा-दौड़ा कर पीटा गया। सैकड़ों लोगों को गिरफ़्तार किया गया।

पर्यावरण सहित अनेक क़ानूनों का खुला उल्लंघन करके चल रहे वेदान्ता कम्पनी के इस कॉपर प्लाण्ट की वजह से पूरे इलाक़े में भारी प्रदूषण फैल रहा था जिसकी वजह से वहाँ बसने वाली हज़ारों की आबादी में साँस के रोगों से लेकर कैंसर तक के मामले ख़तरनाक ढंग से बढ़ रहे थे। इलाक़े के पर्यावरण को भी काफ़ी नुक्सान हो रहा था। कुछ वर्ष पहले प्लाण्ट से हुई गैस लीक के कारण एक व्यक्ति की मौत हो गयी थी और कई को अस्पताल में भरती होना पड़ा था। उस समय लोगों के विरोध के बाद प्रदेश सरकार ने प्लाण्ट बन्द करने के आदेश दिये थे लेकिन कम्पनी ने अदालत में अपील करके इसे फिर से खुलवा लिया था। मगर स्थानीय लोगों ने इसका विरोध करना जारी रखा था। अब कम्पनी तमाम क़ानूनों को ठेंगा दिखाते हुए प्लाण्ट की क्षमता को दोगुना करने जा रही थी जिसके विरोध में इलाक़े के लोग 100 दिनों से आन्दोलन चला रहे थे। सौवें हुए विरोध प्रदर्शन का बर्बर दमन कम्पनी के इशारे पर पूरी योजना के साथ किया गया था। इसका सीधा मकसद था इतना आतंक फैलाना कि फिर किसी को कम्पनी का विरोध करने की हिम्मत ही न हो।

वेदान्ता ग्रुप कई तरह के खनन और खनिजों के कारोबार में लगी एक ब्रिटिश कम्पनी है जिसका नेतृत्व एक अनिवासी भारतीय अनिल अग्रवाल करता है। अनिल अग्रवाल ब्रिटेन के सबसे अमीर लोगों में से एक है और वेदान्ता ग्रुप में लगभग 69.39% मालिकाना उसके परिवार का है। वेदान्ता ग्रुप के उड़ीसा, छत्तीसगढ़, तमिलनाडु, राजस्थान, पंजाब और गोवा के साथ-साथ ज़ाम्बिया, दक्षिण अफ्रीका, नामीबिया, ऑस्ट्रेलिया और आयरलैंड में भी खदानें, रिफ़ाइनरी, बिजली संयंत्र और अन्य कारखाने हैं । इस कम्पनी का दुनिया में हर जगह विरोध किया जा रहा है क्योंकि वह लगातार प्रदूषण सम्बन्धी नियमों और मानवाधिकार क़ानूनों का उल्लंघन करती है, स्थानीय आबादी के अधिकारों का हनन करती है और कार्यकर्ताओं का उत्पीड़न करती है। 2010 में वेदान्ता को ब्रिटेन में 'इंडिपेंडेंट' अख़बार ने 'दुनिया की सबसे ज़्यादा नफ़रत की जाने वाली खनन कम्पनी' कहा था। भारत में भी यह कम्पनी कई राज्यों में पर्यावरण और स्थानीय आबादी पर ऐसे ही कहर बरपा करती रही है।

वेदान्ता ग्रुप के विरोध में हुए इस जन प्रदर्शन के मूल कारणों को जानने के लिए स्टरलाइट कॉपर स्मेल्टर प्लाण्ट की पृष्ठभूमि को जानना ज़रूरी है। 70 वर्षीय माडाथी जो कुमारेड्डीआपूराम गाँव की रहने वाली हैं जहाँ पे स्टरलाइट तांबा स्मेल्टर प्लाण्ट स्थित है, बतलाती हैं कि फैक्ट्री से उत्पन्न प्रदूषण के कारण उनके गाँव में न तो साँस लेने के लिए स्वच्छ हवा नहीं है और न ही पीने का योग्य पानी है। यहाँ की ज़मीन बंजर हो गयी है। पहले हम दालों, मक्का, और इसी तरह की अन्य खेती करते थे लेकिन अब खेती संभव ही नहीं है क्योंकि यहाँ का भूजल पूरी तरह से दूषित हो गया है और मिट्टी अब बिलकुल उपजाऊ नहीं रही। यहाँ बहुत से लोग दूषित हवा के चलते फेफड़ों और त्वचा की बीमारियों से पीड़ित हैं। कैंसर रोगियों में भी तेज़ वृद्धि हुई है।

स्टरलाइट कम्पनी ने 1997 में जो कॉपर स्मेल्टर प्लाण्ट लगाया था वह चिली से खरीदा हुआ सेकंड हैंड प्लाण्ट है जिससे पर्यावरण का खतरा निश्चित था। परन्तु भारत में स्थानीय लोगों के विरोध के बावजूद राजनीतिक साँठगाँठ से उसे लगा दिया गया। स्थानीय लोगों में सबसे ज्यादा नुक्सान मछुआरों को था क्योंकि प्रदूषित समुद्र के पानी में मछलियों की संख्या में कमी होने लगी थी। वे अन्य गाँव वालों और किसानों के साथ मिलकर लगभग दो दशकों से इस प्लाण्ट के खिलाफ़ लड़ते रहे हैं। वेदान्ता ग्रुप स्थानीय लोगों में फूट डालने और उनके विरोध को कुन्द कर देने की तमाम कोशिशें करता रहा है। स्थानीय व्यापारियों और दुकानदारों को फायदे पहुँचाने का लालच देकर विरोध से दूर किया गया। आम गाँव वालों को नौकरी देने और उनके पानी का बिल भर देने की रिश्वत देकर इस विरोध से दूर किया गया। स्थानीय पंचायतों में शामिल लोगों को सब कॉन्ट्रैक्ट पर काम देने का लालच दिया गया। अपनी इमेज सुधारने के लिए कई तरह के एन.जी.ओ. की मदद से वृक्षारोपण जैसे काम कराये गये। इस सबके बावजूद मछुआरों की अगुआई में जब विरोध बढ़ता गया तो जातीय और धार्मिक दंगे भी भड़काये गये और झूठे आरोपों में फँसा कर आन्दोलन की अगुवाई कर रहे कई लोगों को जेल भेज दिया गया। समय बीतने के साथ यह आन्दोलन बिखर गया। परन्तु हर कुछ महीनों में फैक्ट्री से होने वाले ज़हरीली गैसों के रिसाव से कई लोगों को फेफड़े में तकलीफ़ होने लगी, कैंसर से पीड़ित लोगों की संख्या बढ़ गयी और चर्म रोग और अन्य कई रोग लोगों को होने लगे। कई तरह की दालों की फसलें जो पहले हुआ करती थी वे प्रदूषित पानी और मिट्टी के कारण उगना बन्द हो गयीं। मछुआरों की जीविका रहीं मछलियां दूषित समुद्र में मरने लगीं और लोगों को फिर समझ आ गया की इस कॉपर प्लाण्ट से कितने ज़्यादा दीर्घकालीन खतरे हैं।

इसी दौरान मुनाफ़े को पहली प्राथमिकता देने के चलते प्लाण्ट में सही व्यवस्थाएँ ना होने के कारण बहुत सी दुर्घटनाएँ भी हुईं जिससे कई गाँवों के लोग फिर से इसके विरोध में लामबन्द होने लगे। 2013 में एक बड़े रिसाव के बाद मामला कोर्ट तक गया और प्लाण्ट को 5 दिन बंद करना पड़ा। लेकिन केवल 100 करोड़ के जुर्माने के साथ वेदान्ता ग्रुप को प्लाण्ट चालू करने की अनुमति फिर मिल गयी। उसने जुर्माना भी अदा नहीं किया। फरवरी 2018 में जब पता चला कि वेदान्ता ग्रुप इस प्लाण्ट की क्षमता को दोगुना बढ़ाने जा रहा है तो एक व्यापक आन्दोलन शुरू हो गया। आन्दोलन के सौवें दिन लगभग 2 लाख लोगों का समूह इसके विरोध में एकत्र हो गया था। स्टरलाइट द्वारा इतने सालों वायु प्रदूषण किया जाता रहा जिससे आसपास रहने वाले लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ा। प्लाण्ट से गंदा पानी भी छोड़ा गया जो भूमि में रिसकर भूमिगत जल को जहरीला बनाता रहा और उस ज़हरीले पानी से सिंचाई करके जो सब्जियां उगाई गयीं वे भी ज़हरीली होने लगीं। समुद्र के पानी में भी केमिकल मिलने के कारण मछलियां मर गयीं और मछुआरों की जीविका संकट में आ गयी । ये सब दो दशकों तक बेरोकटोक होता रहा और इस सबके बावजूद वेदान्ता ग्रुप को प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड से क्लीन चिट मिलती रही। चाहे कांग्रेस हो या भाजपा या प्रदेश में बारी-बारी से राज करने वाली द्रमुक और अन्नाद्रमुक – वेदान्ता ग्रुप हमेशा सभी राजनीतिक पार्टियों को खूब चन्दा देता रहा है और सभी को अपनी जेब में रखता है। 2004 से 2014 तक भारत में कांग्रेस और बीजेपी दोनों दलों के लिए वेदान्ता ग्रुप एक प्रमुख दान दाता रहा है । मोदी सरकार के तथाकथित विकास का तो वेदान्ता ग्रुप एक प्रमुख स्तम्भ बन गया है और सरकार खुद वेदान्ता ग्रुप का प्रचार-प्रसार करती नज़र आती है। यही कारण है कि उसके प्रोजेक्ट की रक्षा करने के लिए ख़ुद सरकार की पुलिस आम जनता की हत्या करने में मुस्तैद रही है। यही असली चरित्र है कॉर्पोरेट और सरकारों की मुनाफ़े के बँटवारे पर आधारित साँठगाँठ का। ये दोनों एक-दूसरे के हित में और आम लोगों के विरोध में इसी तरह काम करते हैं। वेदान्ता ग्रुप जैसे बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेट ज़्यादातर पिछड़े या विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके और ठेका मज़दूरों के सस्ते श्रम की लूट से अरबों का मुनाफ़ा कमाते हैं। इस मुनाफे का कुछ हिस्सा वे सरकार और अन्य राजनीतिक पार्टियों की तिजोरी में डाल देते हैं और कुछ टुकड़े वे एन.जी.ओ. के भिखमंगों की ओर फेंक देते हैं जो उनके चेहरे पर लगे ख़ून के दाग़ों को धोने-पोंछने का काम करते हैं।

वेदान्ता ग्रुप द्वारा पर्यावरण और मानवाधिकारों के उल्लंघन की सूची बहुत लम्बी है। भारत में ही कोरबा (छत्तीसगढ़) स्थित बाल्को एल्युमीनियम स्मेल्टर प्लाण्ट की एक निर्माणाधीन चिमनी के ढेह जाने से लगभग 42 मज़दूरों की जान चली गयी थी और इस घटना के बाद लगभग 100 मज़दूर लापता भी हो गये थे। न्यायिक जाँच की रिपोर्ट में वेदान्ता ग्रुप पर दोषपूर्ण सामग्री और गलत निर्माण विधियों द्वारा चिमनी बनाने का आरोप तय हुआ और उसे लापरवाही का भी दोषी पाया गया। परन्तु वेदान्ता ग्रुप के वकीलों ने इस रिपोर्ट को दबा दिया और कानूनी तिकड़म लगाकर केस को रफ़ा-दफ़ा करवा दिया। कोरबा स्थित इस एल्युमीनियम रिफाइनरी (बाल्को) को वेदान्ता ग्रुप ने 551 करोड़ में सरकार से खरीदा था जबकि इसकी असली क़ीमत कम से कम 3000 करोड़ तक आंकी जा रही थी। निजीकरण के बाद से इस रिफाइनरी में ठेका मज़दूरों को बहुत कम मज़दूरी पर ख़राब परिस्थितियों में काम करना पड़ रहा है और फैक्ट्री के अन्दर दुर्घटनाओं में भी भारी बढ़ोत्तरी हुई है।

इसी तरह, वेदान्ता ग्रुप ने 2004 में उड़ीसा स्थित नियामगिरी पहाड़ियों के नीचे बिना किसी सरकारी अनुमति के दस लाख टन उत्पादन क्षमता की लांजीगढ़ रिफाइनरी का निर्माण कर दिया और इसे छह गुना बढ़ा भी दिया। उन्हें पूरा यकीन था कि नियामगिरि पहाड़ों में भारी तादाद में मौजूद बॉक्साइट का खनन करने की अनुमति उन्हें सरकारी साँठगाँठ से देर-सबेर मिल ही जायेगी और फिर वे इस रिफाइनरी से तगड़ा मुनाफ़ा कमायेंगे। नियामगिरि में खनन की अनुमति की फर्जी रिपोर्ट दिखाकर वेदान्ता ग्रुप ने 2003 में लंदन स्टॉक एक्सचेंज में अपना नाम भी दर्ज करवा लिया। परन्तु नियामगिरि पहाड़ों में रहने वाले डोंगरिया कोंड आदिवासियों ने इसका शुरू से ज़बर्दस्त विरोध किया क्योंकि इस स्तर का प्राकृतिक दोहन उन्हें वहाँ से बेदखल तो करता ही, वहाँ की जैव विविधता को भी लगभग ख़त्म कर देता। आदिवासियों के इस लम्बे और तगड़े प्रतिरोध के कारण 2014 में नियामगिरि पहाड़ों में खनन पर पूरी तरह रोक लगा दी गयी। मगर इस लड़ाई के दौरान कई आदिवासियों की हत्या कर दी गयी और उन्हें बहुत अधिक अत्याचार और उत्पीड़न झेलना पड़ा। बहुत से आदिवासियों को आतंकवादी कहकर पुलिस और प्रशासन ने मार दिया। सरकार की तरफ से खनन की अनुमति दिये बिना खनन करने पर भी वेदान्ता ग्रुप के खिलाफ कोई कड़ी कार्यवाही ना होना, खनन रोकने के कोई प्रयास ना होना और पुलिस और प्रशासन द्वारा विरोध कर रहे आदिवासियों पर अत्याचार साफ़ दर्शाता है कि वेदान्ता

(पेज 12 पर जारी)

क्रान्तिकारी सोवियत संघ में स्वास्थ्य सेवाएँ

आज की नयी पीढ़ी क्रान्तिकारी सोवियत संघ के समाजवादी मॉडल (1917-1956) के बारे में या तो कुछ नहीं जानती है या पूँजीवादी मीडिया में समाजवाद के बारे में जो कुत्सा-प्रचार किया जाता है, बस वही जानती है, जो कि ना जानने के बराबर ही होता है। कई लोग जो समाजवाद की विचारधारा और उसकी सफलताओं के बारे में जानना भी चाहते हैं, वो कई बार इण्टरनेट और विकीपीडिया या हिस्ट्री चैनल, ज्योग्राफ़ी चैनल आदि से इसकी शुरुआत करते हैं। इन पूँजीवादी चैनलों/मीडिया/इण्टरनेट आदि पर सचेतन-अचेतन रूप से समाजवाद की विचारधारा के बारे में भ्रम फैलाने का काम किया जाता है और समाजवाद की प्रचण्ड सफलताओं को जानबूझकर कम करने या ग़ायब ही कर देने का षड्यन्त्र किया जाता है ताकि लोग पूँजीवादी शोषण और लूट को सहने को ही अपना भाग्य मान लें और पूँजीवाद के एकमात्र और असली विकल्प यानी समाजवाद से मुँह फेर लें। ऐसे में ये ज़रूरी हो जाता है कि नयी पीढ़ी को समाजवाद की सफलताओं के बारे में बताया जाये। इस क्रम में हम सोवियत संघ में 1917 से 1956 तक के समय की पड़ताल करते हुए यह जानने की कोशिश करेंगे कि इस दौरान सोवियत संघ में स्वास्थ्य के क्षेत्र में क्या उपलब्धियाँ हासिल की गयीं। 1956 की बीसवीं पार्टी कांग्रेस के बाद निकिता ख़ुश्चेव ने समाजवाद से ग़द्दारी करके वहाँ पूँजीवाद को वापस बहाल कर दिया जिसके बाद वहाँ समाजवादी नीतियों और ढाँचे को तोड़कर श्रम की लूट पर टिकी पुरानी पूँजीवादी नीतियों को वापस शुरू किया गया जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद ही वहाँ हालात वापस ज़ारकालीन रूस या किसी भी अन्य पूँजीवादी मुल्क़ जैसे हो गये। आज के पूँजीवादी रूस में बढ़िया स्वास्थ्य सेवाएँ बस अमीरज़ादों को ही हासिल हैं और आम जनता के हिस्से अमीरों की जूठन ही आती है और यही हाल आज के भारत या किसी भी अन्य पूँजीवादी देश का है।

सोवियत संघ में स्वास्थ्य सुविधा पूरी जनता को नि:शुल्क उपलब्ध थी। वहाँ गोरखपुर की तरह ऑक्सीजन सिलेण्डर के अभाव में बच्चे नहीं मरते थे और ना ही भूख से कोई मौत होती थी। सोवियत रूस में गृह युद्ध (1917-1922) के दौरान स्वास्थ्य सेवाएँ बहुत पिछड़ गयी थीं। 1921 में जब गृहयुद्ध में सोवियत सत्ता जीत गयी, तब रूस में सब जगह गृहयुद्ध के कारण बुरा हाल था। देशभर में टाइफ़ाइड और चेचक जैसी बीमारियों से कई लोग मर रहे थे। साबुन, दवा, भोजन, मकान, स्कूल, पानी आदि तमाम बुनियादी सुविधाओं का चारों तरफ़ अकाल था। मृत्यु दर कई गुना बढ़ गयी थी और प्रजनन दर घट गयी थी। चारों तरफ़ अव्यवस्था का आलम था। पूरा देश स्वास्थ्य कर्मियों, अस्पतालों, बिस्तरों, दवाइयों, विश्रामगृहों के अभाव की समस्या से जूझ रहा था। ऐसे में सोवियत सत्ता ने एक केन्द्रीयकृत चिकित्सा प्रणाली को अपनाने का फ़ैसला किया जिसका लक्ष्य था छोटी दूरी में इलाज करना और लम्बी दूरी में बीमारी से बचाव के साधनों-तरीक़ों पर ज़ोर देना ताकि लोगों के जीवन स्तर को सुधारा जा सके। इस प्रणाली का मक़सद था नागरिकों को उनके रहने और काम करने की जगह पर तमाम बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध करवाना ताकि उन्हें इलाज घर के पास मिले, ना कि दूर-दराज़ के शहरों में। इसके तहत सबसे पहले सहायता स्टेशनों, फिर पॉलीक्लिनिक, फिर ज़िलों और शहरों के बड़े अस्पतालों का निर्माण किया गया। तमाम सरकारी विभागों, फ़ैक्ट्रियों, कारख़ानों, खदानों, खेतों आदि में काम करने वाले मज़दूरों, किसानों, कर्मचारियों, नागरिकों को उनकी काम करने और रहने की जगह पर ही स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध करवायी गयीं व लोगों को स्वास्थ्य अधिकारों के प्रति जागरुक किया गया। सोवियत संघ के संविधान में 1936 में लिख दिया गया कि जनता को मुफ़्त स्वास्थ्य सुविधाएँ देना सरकार का कर्तव्य है और इस बात को पूरे देश में लागू किया गया! सोवियत संघ में बीमारियों के इलाज पर ही नहीं, बल्कि बीमारियों की रोकथाम पर भी उचित ध्यान दिया गया। भाँति-भाँति की डिस्पेंसरियाँ पूरे देश में खोली गयीं जिनको शराबखोरी, टीबी, व अन्य प्रकार की बीमारियों से लड़ने में कुशलता प्राप्त थी। अप्रैल 1919 में सोवियत संघ में टीकाकरण को अनिवार्य कर दिया गया जिसका परिणाम तुरन्त सामने आया और मृत्यु दर में कमी आयी। सोवियत संघ में 1917 में 17,785 चिकित्सक थे जो 1928 में बढ़कर 63,219 हो गये। 1917 में स्वास्थ्य मद में ख़र्चा 128 मिलियन रूबल से बढ़कर 1928 तक 660 मिलियन रूबल तक पहुँच गया। 1917 में अस्पताल के बिस्तरों की संख्या 1,75,000 थी जो 1928 में बढ़कर 2,25,000 हो गयी। इसके बाद प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त (1932-33) तक डॉक्टरों की संख्या बढ़कर 76,000 हो गयी, अस्पताल के बिस्तरों की संख्या में आधे से ज़्यादा की वृद्धि हुई और नर्सरियों की संख्या 2,56,000 से बढ़कर 57,50,000 हो गयी। साथ ही 14 नये मेडिकल कॉलेज व 133 नये सेकेण्डरी मेडिकल स्कूल खोले गये। ज़ारकालीन रूस में 9 शिशु और मातृत्व कल्याण केन्द्र थे, जो 1938 में बढ़कर 4,384 हो गये। माताओं और बच्चों के लिए बड़े पैमाने पर किंडरगार्डन, नर्सरियाँ, विश्राम गृह (रेस्ट होम) आदि बनाये गये। स्तालिनकाल में सभी प्रकार के उपचार - अस्पताल के उपचार, फिजियोथेरेपी, रेडियोथेरेपी, सैनेटोरियम इलाज, दन्त चिकित्सा, मातृत्व सेवाएँ आदि - सोवियत लोगों के लिए मुफ़्त उपलब्ध थे। 1937 में सोवियत संघ का सार्वजनिक स्वास्थ्य बजट 1913 के ज़ारकालीन रूस का 75 गुना था। 1913 में स्वास्थ्य सेवाओं पर प्रति व्यक्ति ख़र्च केवल 90 कोपेक था जो 1937 तक बढ़कर 60 रूबल हो गया। 1938 तक शिशु मृत्यु दर में 50% की कमी हुई, टीबी के मरीज़ों की संख्या में 83% की कमी हुई, सिफ़लिस के मामलों में 90% की कमी हुई। 1937 की मृत्यु दर 1913 की मृत्यु दर से 40% कम थी यानी लोग ज़्यादा समय तक जीवित रहने लगे। इसके अलावा, सोवियत संघ में 1938 में खाद्य उद्योग का कुल उत्पादन 1913 के ज़ारकालीन रूस का लगभग 6 गुना था और जनता के बहुत बड़े हिस्से को बढ़िया पौष्टिक भोजन उपलब्ध करवाया जा रहा था। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक फलों की खपत 3 गुनी और मांस की खपत 5 गुनी बढ़ गयी थी।

इस सोवियत प्रणाली ने अपनी श्रेष्ठता और उपयोगिता 1941 से 1945 तक के दूसरे विश्व युद्ध में सिद्ध की, जब वहाँ के स्वास्थ्य कर्मी कई लाख बीमार और घायल सैनिकों को वापस मोर्चे पर भेजने में सफल रहे। स्वास्थ्य के मसले पर सोवियत संघ में सबसे बड़ा काम यह किया गया कि ग़रीबी और बेरोज़गारी को जड़ से मिटा दिया गया। दरअसल कई बीमारियों का असल कारण होती है ग़रीबी और बेरोज़गारी, जिसके कारण ही कई अन्य स्वास्थ्य-सम्बन्धी दिक्कतें पैदा होती हैं! सोवियत संघ में चूँकि सबको रोज़गार दिया गया, मुफ़्त शिक्षा, चिकित्सा, आवास आदि की सुविधाएँ दी गयीं, जनता को इज़्ज़त और आसूदगी की ज़िन्दगी दी गयी, इसलिए सोवियत संघ स्वास्थ्य के क्षेत्र में ऊपर बतायी गयी चमत्कारिक और प्रचण्ड सफलताओं को हासिल कर सका। पूँजीवादी देशों में चूँकि श्रम करने वाली जनता को जानबूझकर ग़रीब बनाकर रखा जाता है, तरह-तरह के टैक्स लगाकर उसे लूटा जाता है, इसलिए वहाँ ग़रीबी से पैदा होने वाली बीमारियाँ जनता को हलकान किये रहती हैं। ग़रीब इलाज-सावधानी के अभाव में मरता है, और अच्छा इलाज बहुत महँगा होता है, जिसे सिर्फ़ पैसे वाले ही ख़रीद पाते हैं। सोवियत संघ में इसके उलट सबको रोज़गार, नि:शुल्क शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ देकर लोगों को कई भूख-और-कुपोषण-जनित बीमारियों से निजात दिलवा दी गयी! अब आप इसकी तुलना आज के भारत से करें। भारतीय पूँजीवाद पिछले 70 सालों में, जवाहरलाल नेहरू से लेकर नरेन्द्र मोदी तक, जनता को बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाएँ तक देने में बुरी तरह असफल और फिसड्डी साबित हुआ है।

– मुनीश मैन्दोला

हत्यारे वेदान्त ग्रुप द्वारा प्रायोजित अपराध

(पेज 11 से आगे)

ग्रुप को हमेशा ही सरकार का संरक्षण प्राप्त रहा। आज भी बड़े-बड़े बैनरों पर प्रधानमन्त्री के साथ वेदान्ता ग्रुप के चेयरमैन की तस्वीर देखी जा सकती है जो बतलाती है कि किस तरह सरकार इन बड़े पूँजीपतियों के अपराधों पर पर्दा डालने के साथ-साथ उनकी मार्केटिंग भी करती है।

उड़ीसा में ही वेदान्ता ग्रुप के झारसुगुडा एल्यूमीनियम परिसर में दो स्मेल्टर और पावर प्लाण्ट शामिल हैं जिन्हे तूतुकोडिकी ही तरह उचित पर्यावरण प्रभाव आकलन के बिना बनाया गया था। निरन्तर प्रदूषण के परिणामस्वरूप वहाँ बहने वाली भेदेन नदी का पानी अब पीने योग्य नहीं बचा है। अगस्त 2017 में राख का एक टैंक ढह गया जिससे 500 एकड़ कृषि भूमि में ज़हरीले पानी की बाढ़ सी आ गयी। गाँव वालों ने मुआवज़ा ना मिलने पर कारखाने के फाटक को बन्द करवा दिया। गाँव वालों का कहना था कि वे इस तरह के और भी एक राख के टैंक का विरोध कर रहे है क्योंकि जिस टैंक में ये एकत्र किये जाते है उसमें दरारें है और वह कभी भी ढह सकता है। इससे उनकी जान को भी खतरा है क्योंकि वहाँ का पानी उनकी जीविका का साधन है। प्राथमिक जाँच से पता चला कि लगभग 100 एकड़ कृषि भूमि इस राख़ के पानी के कारण अब उपयोगी नहीं बची है। पर्यावरण के जानकार बताते हैं कि कृषि भूमि पर बहने वाली ऐश भारी धातु को भी मिट्टी में छोड़ देती है जो मिट्टी की परत को साफ़ करने के बावजूद बचे रह जाते हैं। भारी धातु की मौजूदगी अक्सर मिट्टी को दीर्घकालीन प्रदूषण की ओर ले जाती है और फसल को प्रभावित करती है। इसके अलावा भेदेन नदी के नज़दीक जलीय जंतु भी अत्यधिक प्रभावित होंगे। पर्यावरण और स्थानीय रहवासियों के जीवन के साथ ऐसा खिलवाड़ करके ही वेदान्ता जैसे ग्रुप बेरोकटोक मुनाफ़ा कमाते जा रहे है।

वेदान्ता ग्रुप के ऐसे कई और कारनामे रहे है। सेसा गोवा नामक कम्पनी वेदान्ता ग्रुप की ही सहायक कम्पनी है जो गोवा में लौह अयस्क खनन के कारोबार में है। 2012 में शाह आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार सेसा गोवा अवैध खनन करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी थी। इस रिपोर्ट में ये भी बताया गया कि पर्यावरणीय क्लीयरेंस प्राप्त करने में यह कम्पनी विफल रही। 2010 में गोवा से इस कम्पनी द्वारा 15 करोड़ टन लौह अयस्क निर्यात किया गया पर दिखाया गया केवल 7.6 करोड़ टन। इसी तरह राजस्थान में वेदान्ता ग्रुप ने केवल 600 करोड़ रुपये में सार्वजनिक कम्पनी हिंदुस्तान जिंक लिमिटेड (एच.ज़ेड.एल.) खरीद ली जबकि ये उसकी अनुमानित क़ीमत से बीस गुना कम रकम है। पंजाब स्थित टी.एस.पी.एल. भी वेदान्ता ग्रुप की पावर सेक्टर में एक सहायक कम्पनी है। इस कम्पनी ने पंजाब में स्थानीय लोगों के साथ परामर्श किये बिना उनकी भूमि हड़प ली। किसानों को ज़मीन के लिए बाजार मूल्य से बहुत कम क़ीमत का भुगतान किया गया। दलित और भूमिहीन मज़दूरों को आजीविका के नुकसान के लिए कोई मुआवज़ा नहीं मिला। पर्यावरण को इस तरह बर्बाद किया गया कि वहाँ के स्थानीय समुदाय साँस लेने में समस्याएँ, खुजली और आखों में जलने और सिरदर्द की शिकायतें अक्सर करते रहे हैं। यहाँ मवेशियों में भी गम्भीर बीमारियाँ पैदा होती हैं। वेदान्ता ग्रुप के अन्य प्लांटों की तरह यहाँ भी सुरक्षा का ध्यान नहीं दिया जाता और अनेक मज़दूरों की जान दुर्घटनाओं में जा चुकी है। विदेशों में स्थित वेदान्ता ग्रुप के प्लांटों की कहानी भी लगभग ऐसी है। अफ्रीका के ज़ाम्बिया में कॉन्कला कॉपर खदान मुनाफ़ा होने के बावजूद नुक्सान दिखाती रही और कम क़ीमतों में कॉपर को अपनी ही एक दूसरी सहायक कम्पनी को दुबई में बेचती रही। ज़ाम्बिया में वेदान्ता के प्लाण्ट के कारण लोगों को गुर्दों की बीमारी और गर्भपात का सामना करना पड़ा। वेदान्ता ग्रुप को इस मामले में दोषी भी ठहराया गया परन्तु उसको मुआवज़े के लिए कुछ ना देने तक की छूट दे दी गयी। इसी तरह ऑस्ट्रेलिया के तस्मानिया, अफ्रीका के नामीबिया और दक्षिण अफ़्रीका और आयरलैंड में भी वेदान्ता ग्रुप पर पर्यावरण के नाजायज़ दोहन और मानव अधिकारों के उल्लंघन के कई मामले दर्ज होते रहे हैं।

मुनाफ़े की अन्धी हवस में पर्यावरण, आम जन-जीवन और मज़दूरों के जीवन से खिलवाड़ करना वेदान्ता के लिए एक आम बात है। सरकारों और अन्य राजनीतिक दलों के साथ साँठगाँठ करके उसका कारोबार बेरोकटोक चलता रहा है। पर वेदान्ता ग्रुप कोई अपवाद नहीं है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफा ही केन्द्र में होता है और हर पूँजीपति अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए मज़दूरों और प्रकृति का दोहन करता है और इसके लिए सरकारों के साथ तमाम किस्म के नापाक गँठजोड़ भी करता है। ऐसे ख़ून के प्यासे राक्षसों को ख़त्म करने के लिए इन राक्षसों को जन्म देने वाली पूँजीवादी व्यवस्था का ही नामो-निशान मिटाना होगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली

– अभिनव सिन्हा

भारत में फ़ासीवाद का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना कि जर्मनी और इटली में। जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी पार्टियाँ 1910 के दशक के अन्त या 1920 के दशक की शुरुआत में बनीं। भारत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 1925 में नागपुर में विजयदशमी के दिन हुई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक थे केशव बलिराम हेडगेवार। हेडगेवार जिस व्यक्ति के प्रभाव में फ़ासीवादी विचारों के सम्पर्क में आये थे, वह था मुंजे। मुंजे 1931 में इटली गया था और वहाँ उसने मुसोलिनी से भी मुलाक़ात की थी। 1924 से 1935 के बीच आरएसएस से क़रीबी रखने वाले अख़बार 'केसरी' ने मुसोलिनी और उसकी फ़ासीवादी सत्ता की प्रशंसा में लगातार लेख छापे। मुंजे ने हेडगेवार को मुसोलिनी द्वारा युवाओं के दिमाग़ों में ज़हर घोलकर उन्हें फ़ासीवादी संगठन में शामिल करने के तौर-तरीक़ों के बारे में बताया। हेडगेवार ने उन तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल उसी समय से शुरू कर दिया और आरएसएस आज भी उन्हीं तरीक़ों का इस्तेमाल करती है। 1930 के दशक के अन्त तक भारतीय फ़ासीवादियों ने बम्बई में उपस्थित इतालवी कांसुलेट से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। वहाँ मौजूद इतालवी फ़ासीवादियों ने हिन्दू फ़ासीवादियों से सम्पर्क कायम रखा।

लगभग इसी समय एक अन्य हिन्दू कट्टरपन्थी विनायक दामोदर सावरकर, जिनके बड़े भाई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापकों में से एक थे, ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित किया। सावरकर ने जर्मनी में हिटलर द्वारा यहूदियों के सफाये को सही ठहराया और भारत में मुसलमानों की "समस्या" के समाधान का भी यही रास्ता सुझाया। जर्मनी में 'यहूदी प्रश्न' का 'अन्तिम समाधान' सावरकर के लिए एक मॉडल था। सावरकर के लिए नात्सी राष्ट्रवादी थे जबकि यहूदी राष्ट्र-विरोधी और साम्प्रदायिक। लेनिन ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि नस्लवादी अन्धराष्ट्रवादी पागलपन अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आ सकता है। भारत में हिन्दू साम्प्रदायिक अन्धराष्ट्रवाद भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जामा पहनकर ही सामने आ रहा था।

आरएसएस ने भी खुले तौर पर जर्मनी में नात्सियों द्वारा यहूदियों के क़त्लेआम का समर्थन किया। हेडगेवार ने मृत्यु से पहले गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गोलवलकर ने अपनी पुस्तक 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड' और बाद में प्रकाशित हुई 'बंच ऑफ़ थॉट्स' में जर्मनी में नात्सियों द्वारा उठाये गये क़दमों का अनुमोदन किया था। गोलवलकर आरएसएस के लोगों के लिए सर्वाधिक पूजनीय सरसंघचालक थे। उन्हें आदर से संघ के लोग 'गुरुजी' कहते थे। गोलवलकर ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मेडिकल की पढ़ाई की और उसके बाद कुछ समय के लिए वहाँ पढ़ाया भी। इसी समय उन्हें 'गुरुजी' नाम मिला। हेडगेवार के कहने पर गोलवलकर ने संघ की सदस्यता ली और कुछ समय तक संघ में काम किया। अपने धार्मिक रुझान के कारण गोलवलकर कुछ समय के लिए आरएसएस से चले गये और किसी गुरु के मातहत संन्यास रखा। इसके बाद 1939 के क़रीब गोलवलकर फिर से आरएसएस में वापस आये। इस समय तक हेडगेवार अपनी मृत्युशैया पर थे और उन्होंने गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से लेकर 1973 तक गोलवलकर आरएसएस के सुप्रीमो रहे।

गोलवलकर के नेतृत्व में ही आरएसएस के वे सभी संगठन अस्तित्व में आये, जिन्हें आज हम जानते हैं। आरएसएस ने इसी दौरान अपने स्कूलों का नेटवर्क देश-भर में फैलाया। संघ की शाखाएँ भी बड़े पैमाने पर इसी दौरान पूरे देश में फैलीं। विश्व हिन्दू परिषद जैसे आरएसएस के आनुषंगिक संगठन इसी दौरान बने। गोलवलकर ने ही आरएसएस की फ़ासीवादी विचारधारा को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और उनके नेतृत्व में ही आरएसएस की पहुँच महाराष्ट्र के ब्राह्मणों से बाहर तक गयी। आरएसएस सही मायनों में एक अखिल भारतीय संगठन गोलवलकर के नेतृत्व में ही बना। यही कारण है कि गोलवलकर आज भी संघ के लोगों में सबसे आदरणीय माने जाते हैं और अभी दो वर्ष पहले ही संघियों ने देश-भर में उनकी जन्मशताब्दी मनायी थी।

आरएसएस ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ किसी भी स्वतन्त्रता संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया। संघ हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ तालमेल करने के लिए तैयार था। उनका निशाना शुरू से ही मुसलमान, कम्युनिस्ट और ईसाई थे। लेकिन ब्रिटिश शासक कभी भी उनके निशाने पर नहीं थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान संघ देशव्यापी उथल-पुथल में शामिल नहीं हुआ था। उल्टे जगह-जगह उसने इस आन्दोलन का बहिष्कार किया और अंग्रेज़ों का साथ दिया था। श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा बंगाल में अंग्रेज़ों के पक्ष में खुलकर बोलना इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण था। ग़लती से अगर कोई संघ का व्यक्ति अंग्रेज़ों द्वारा पकड़ा गया या गिरफ़्तार किया गया तो हर बार उसने माफ़ीनामा लिखते हुए ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी वफ़ादारी को दोहराया और हमेशा वफ़ादार रहने का वायदा किया। स्वयं पूर्व प्रधानमन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने भी यह काम किया। ऐसे संघियों की फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी है जो माफ़ीनामे लिख-लिखकर ब्रिटिश जेलों से बाहर आये और जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानियों के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों से मुख़बिरी करने का घिनौना काम तक किया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी राज्य ने भी इसी वफ़ादारी का बदला चुकाया और हिन्दु साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों को कभी भी निशाना नहीं बनाया। संघ आज राष्ट्रवादी होने का चाहे जितना गुण गा ले, वह स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल न होने और अंग्रेज़ों का साथ देने का दाग़ अपने दामन से कभी नहीं मिटा सकता है। इतिहास को फिर से लिखने के संघ के प्रयासों के पीछे का मुख्य कारण यही है। वे अपने ही इतिहास से डरते हैं। वे जानते हैं कि उनका इतिहास ग़द्दारियों और कायरताओं का एक काला इतिहास रहा है। हिंसा से उनको बहुत प्रेम है, लेकिन झुण्ड में पौरुष प्रदर्शन वाली हिंसा से। वे कभी किसी जनान्दोलन में शामिल नहीं हुए और उनमें किसी दमन को झेलने की ताक़त नहीं है। हमेशा सत्ता के साथ नाभिनालबद्ध रहते हुए व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ने वालों पर कायराना हिंस्र हमले करना इनकी फ़ितरत रही है। चाहे वे मुसलमान रहे हों, ईसाई या फिर कोई भी राजनीतिक विरोधी। बहादुराना संघर्ष से इनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं रहा है, कभी नहीं।

संघ का पूरा ढाँचा शुरू से ही फ़ासीवादी रहा था। यह लम्बे समय तक सिर्फ़ पुरुषों के लिए ही खुला था। संघ की महिला शाखा बहुत बाद में बनायी गयी। संघ का पूरा आन्तरिक ढाँचा हिटलर और मुसोलिनी की पार्टियों से हूबहू मेल खाता है। हर सदस्य यह शपथ लेता है कि वह सरसंघचालक के हर आदेश का बिना सवाल किये पालन करेगा। सरसंघचालक सबसे ऊपर होता है और उसके नीचे एक सरकार्यवाह होता है जिसे सरसंघचालक ही नियुक्त करता है। एक केन्द्रीय कार्यकारी मण्डल होता है जिसे स्वयं सरसंघचालक चुनता है। अपना उत्तराधिकारी भी सरसंघचालक चुनता है। यानी पूरी तरह एक 'कमाण्ड स्ट्रक्चर' जिसमें जनवाद की कोई जगह नहीं है। नात्सी और फ़ासीवादी पार्टी का पूरा ढाँचा इसी प्रकार का था। नात्सी पार्टी में 'फ्यूहरर' के नाम पर शपथ ली जाती थी और फ़ासीवादी पार्टी में 'डयूस' के नाम पर शपथ ली जाती थी।

यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि यह हमेशा से सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए खुला रहा है। यह खुले तौर पर कहता है कि यह हिन्दुओं के हितों की सेवा करने के लिए है। संघ ने कभी भी निचली जातियों या निचले वर्गों के हिन्दुओं के लिए कोई काम नहीं किया है। इनका समर्थन भी हमेशा से उजड़े टुटपुँजिया पूँजीपति वर्ग, नवधनाढ्यों और लम्पट सर्वहारा के बीच रहा है। संघ के सामाजिक आधार पर हम आगे आयेंगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत में फ़ासीवाद का अपना मौलिक संस्करण तैयार किया। इसकी हिटलर और मुसोलिनी के फ़ासीवाद से काफ़ी समानताएँ थीं और उनसे इन्होंने काफ़ी कुछ सीखा। गोलवलकर अपनी पुस्तक 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड' में लिखते हैं – "आज दुनिया की नज़रों में सबसे ज़्यादा जो दूसरा राष्ट्र है, वह है जर्मनी। यह राष्ट्रवाद का बहुत ज्वलन्त उदाहरण है। आधुनिक जर्मनी कर्मरत है तथा जिस कार्य में वह लगा हुआ है, उसे काफ़ी हद तक उसने हासिल भी कर लिया है... पितृभूमि के प्रति जर्मन गर्वबोध, जिसके प्रति उस जाति का परम्परागत लगाव रहा है, सच्ची राष्ट्रीयता का ज़रूरी तत्व है। आज वह राष्ट्रीयता जाग उठी है तथा उसने नये सिरे से विश्वयुद्ध छेड़ने का जोखिम उठाते हुए अपने "पुरखों के क्षेत्र" पर एकजुट, अतुलनीय, विवादहीन, जर्मन साम्राज्य की स्थापना करने की ठान ली है..." (गोलवलकर, 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड, पृ. 34-35)

गोलवलकर ने इसी पुस्तक में यहूदियों के क़त्लेआम का भरपूर समर्थन किया और इसे भारत के लिए एक सबक़ मानते हुए लिखा – "... अपनी जाति और संस्कृति की शुद्धता बनाये रखने के लिए जर्मनी ने देश से सामी जातियों – यहूदियों का सफाया करके विश्व को चौंका दिया है। जाति पर गर्व-बोध यहाँ अपने सर्वोच्च रूप में व्यक्त हुआ है। जर्मनी ने यह भी बता दिया है कि सारी सदिच्छाओं के बावजूद जिन जातियों और संस्कृतियों के बीच मूलगामी फ़र्क़ हों, उन्हें एक रूप में कभी नहीं मिलाया जा सकता। हिन्दुस्तान में हम लोगों के लाभ के लिए यह एक अच्छा सबक़ है।" (गोलवलकर, वही, पृ. 35)। हिटलर की इसी सोच को गोलवलकर भारत पर लागू कैसे करते हैं, देखिए : "... जाति और संस्कृति की प्रशंसा के अलावा मन में कोई और विचार न लाना होगा, अर्थात हिन्दू राष्ट्रीय बन जाना होगा और हिन्दू जाति में मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को गँवा देना होगा, या इस देश में पूरी तरह हिन्दू राष्ट्र की गुलामी करते हुए, बिना कोई माँग किये, बिना किसी प्रकार का विशेषाधिकार माँगे, विशेष व्यवहार की कामना करने की तो उम्मीद ही न करें; यहाँ तक कि बिना नागरिकता के अधिकार के रहना होगा। उनके लिए इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं। हमें उन विदेशी जातियों से जो हमारे देश में रह रही हैं, उसी प्रकार निपटना चाहिए, जैसे कि प्राचीन राष्ट्र विदेशी नस्लों से निपटा करते हैं" (गोलवलकर, वही, पृ. 47-48) बात बिल्कुल साफ़ है। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति संघ के विचार वही हैं जो यहूदियों के प्रति हिटलर के थे।

संघ का राष्ट्र कौन है?

हिन्दू, लेकिन सारे हिन्दू नहीं। उच्च जाति के पुरुष हिन्दू। स्त्रियों को हिटलर और मुसोलिनी के समान ही पुरुष का सेवक और स्वस्थ बच्चे पैदा करने के यन्त्र से अधिक और कुछ नहीं माना गया है। दूसरी बात, वे हिन्दू जिनके पास समाज के संसाधनों का मालिकाना है। मज़दूर वर्ग का काम है कि महान प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए बिना सवाल उठाये खटते रहें – 12 घण्टे और कभी-कभी तो 14-15 घण्टे तक। इस पर सवाल खड़े करना या श्रमिक अधिकारों की बात करना राष्ट्र-विरोधी माना जायेगा। हर कोई अपना 'कर्म' करे, सवाल नहीं! कर्म आपके जन्म से तय होता है। आप जहाँ जिस घर में, जिस परिवार में जन्मे आपको वैसा ही कर्म करना है। या फिर जैसा आपके राष्ट्र, धर्म और जाति का नेता आपसे कहे! प्रतिरोध, विरोध और प्रश्न राष्ट्रद्रोह है! श्रद्धा-भाव से कर्म कीजिए! मज़दूरों का यही धर्म है कि वे 'राष्ट्र प्रगति' में अपना हाड़-मांस गला

(पेज 14 पर जारी)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली

(पेज 13 से आगे)

डालें! बताने की ज़रूरत नहीं है कि संघ और भाजपा के लिए राष्ट्र का अर्थ है पूँजीपतियों, दुकानदारों, टुटपूँजियों की बिरादरी। जब ये मुनाफ़ाखोर तरक़्क़ी करते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं तो ही राष्ट्र तरक़्क़ी करता है। हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने-अपने देशों में मज़दूरों के प्रति यही रुख़ अपनाया था। इन देशों में फ़ासीवादी सत्ताएँ आने के साथ ही ट्रेड यूनियनों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था। ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर हिंस्र हमले इटली और जर्मनी में फ़ासीवादियों की गुण्डा फ़ौजों ने तब भी किये, जब वे सत्ता में नहीं थे। मुम्बई में ट्रेड यूनियन नेताओं, मज़दूरों और उनकी हड़तालों पर ऐसे ही हमले शिव सेना (जिसका फ़ासीवाद प्रेम जगजाहिर है) ने भी किये थे। देश-भर में जगह-जगह बजरंग दल और विहिप के गुण्डों ने समय-समय पर पूँजीपतियों के पक्ष से मज़दूरों, उनके नेताओं और हड़तालों को तोड़ने का काम किया है। जब वे इस किस्म की आतंकवादी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे होते हैं, तो वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। मिसाल के तौर पर, मज़दूरों के बीच ऐसे संगठन बनाये जाते हैं, जो मज़दूरों की दुर्दशा के लिए पूँजीपति वर्ग को ज़िम्मेदार नहीं ठहराते। पूँजीपतियों से ख़ैरात लेकर और साथ ही मज़दूरों के बीच से पैसे जुटाकर 'फ़ण्ड पूल' बनाये जाते हैं जो मज़दूरों को बेरोज़गारी और भुखमरी की हालत में कुछ पैसे दे देता है।

कई बार ये पैसे सूद पर भी दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, धार्मिक अवसरों पर मज़दूरों के बीच पूजा आदि करवाना, कीर्तन करवाना – ये ऐसे संगठनों का मुख्य काम होता है। साथ ही मज़दूरों के दिमाग़ में यह बात भरी जाती है कि उनके हालात के ज़िम्मेदार अल्पसंख्यक हैं जो उनके रोज़गार आदि के अवसर छीन रहे हैं। इन फ़ासीवादी संगठनों के नेताओं के मुँह से अक्सर ऐसी बात सुनने को मिल जाती है –"17 करोड़ मुसलमान मतलब 17 करोड़ हिन्दू बेरोज़गार!" यह बरबस ही फ्रांस के फ़ासीवादी नेता मेरी लॉ पेन के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें उसने कहा था – "दस लाख प्रवासी मतलब दस लाख फ्रांसीसी बेरोज़गार!" मज़दूरों के बीच सुधार के कार्य करते हुए ये संघी संगठन मज़दूरों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाने का काम करते हैं। वे उन्हें हिन्दू मज़दूर के तौर पर संगठित करने की कोशिश करते हैं। और इस प्रकार वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ते हैं। साथ ही, 'कमेटी' डालने (सूद पर पैसा देने वाली एक संस्था, जिसे संघी संगठन मज़दूरों के पैसे से ही बनाते हैं, जो देखने में आपसी सहकार जैसी लगती है) जैसी गतिविधियों के ज़रिये थोड़ी देर के लिए ही सही, मगर पूँजीपति वर्ग से अन्तरविरोधों को तीखा नहीं होने देते। संघ का एक ऐसा ही संगठन है 'सेवा भारती'। साथ ही संघी ट्रेड यूनियन भारतीय मज़दूर संघ अक्सर मुसोलिनी की तर्ज़ पर औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए 'कॉरपोरेटवादी' समाधान सुझाती है। इसमें फ़ासीवादी नेतृत्व में एक संघीय निकाय बनाया जाता है जिसमें मज़दूरों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि बैठते हैं। फ़ासीवादी पार्टी विवादों का निपटारा करती है और ऐसा वह हमेशा पूँजीपतियों के पक्ष में अधिक झुकते हुए करती है। या फिर हिटलर की तरह मज़दूरों पर पूर्ण नियन्त्रण के लिए विभिन्न आतंकवादी संगठन बनाने का रास्ता भी आरएसएस हमेशा खोलकर रखता है। बजरंग दल एक ऐसा ही आतंकवादी संगठन है जो हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को असंवैधानिक रास्ते से सड़क पर झुण्ड हिंसा के ज़रिये निपटाने के लिए संघ द्वारा खड़ा किया गया है। यह कम्युनिस्टों, उदारवादियों, साहित्यकारों समेत मज़दूरों और ट्रेड यूनियन प्रतिरोध को गुण्डों और मवालियों के झुण्ड के हिंस्र हमलों द्वारा शान्त करने में यक़ीन करता है। यानी, भारत के फ़ासीवादियों ने जर्मन और इतालवी तरीक़ों का मेल किया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि फ़ासीवादी हमेशा राष्ट्रवाद की ओट में पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। राष्ट्र से उनका मतलब पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग हैं, बाक़ी वर्गों की स्थिति अधीनस्थ होती है और उन्हें उच्च राष्ट्र की सेवा करनी होती है; यही उनका कर्तव्य और दायित्व होता है। प्रतिरोध करने वालों को 'दैहिक और दैविक ताप से पूर्ण मुक्ति' दे दी जाती है। फ़ासीवाद समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हमेशा ही सड़क पर झुण्डों में की जाने वाली हिंसा का सहारा लेता है। जर्मनी और इटली में भी ऐसा ही हुआ था और भारत में भी संघ ने यही रणनीति अपनायी। संघ के आनुषंगिक संगठन जैसे विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल अक्सर इस तरीक़े को अपनाते हैं। भोपाल में प्रो. सभरवाल की हत्या इसी का एक उदाहरण था।

भारतीय फ़ासीवाद की कार्यपद्धति और उसके उभार का इतिहास

फ़ासीवाद ने भारत में जिस कार्यपद्धति को लागू किया, उसकी भी जर्मन और इतालवी फ़ासीवादियों की कार्यपद्धति से काफ़ी समानता रही है। जर्मनी और इटली की तरह यहाँ पर भी फ़ासीवाद ने जिन तौर-तरीक़ों का उपयोग किया, वे थे सड़क पर की जाने वाली झुण्ड हिंसा; पुलिस, नौकरशाही, सेना और मीडिया का फ़ासीवादीकरण; क़ानून और संविधान का खुलेआम मखौल उड़ाते हुए अपनी आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना और इस पर उदारवादी पूँजीवादी नेताओं की चुप्पी; शुरुआत में अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना और फिर अपने हमले के दायरे में हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को ले आना; शाखाओं, शिशु मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और धार्मिक त्योहारों का उपयोग करते हुए मिथकों को समाज के 'सामान्य बोध' (कॉमन सेंस) के तौर पर स्थापित कर देना (जैसे, आज उदारवादी हिन्दुओं में भी यह धारणा प्रचलित है कि मुसलमान बहुविवाह करते हैं, ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं, शातिर होते हैं, हिन्दू राष्ट्र को निगल जाना चाहते हैं, गन्दे रहते हैं, आदि-आदि, जिनका सच्चाई से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है); झूठा प्रचार : यह दुनिया-भर के फ़ासीवादियों की साझा रणनीति रही है; फ़ासीवादी हमले का निशाना संस्थाएँ नहीं बल्कि व्यक्ति हुआ करते हैं और भारत में भी विरोधियों को आतंकित करने की यही नीति फ़ासीवादियों द्वारा अपनायी गयी; अफ़वाहों का कुशलता से इस्तेमाल करना भी भारतीय फ़ासीवादियों की एक प्रमुख निशानी रही है; जर्मनी और इटली की तरह ही एक ही साथ कई बातें बोलना भी भारतीय फ़ासीवादियों ने ख़ूब लागू किया है; उनका एक नर्म चेहरा होता है, एक उग्र चेहरा, एक मध्यवर्ती चेहरा और जब जिस चेहरे की ज़रूरत पड़ती है, उसे आगे कर दिया जाता है; भारत में भी संघ का कोई एक स्थायी संविधान नहीं रहा था; ये जब जैसी ज़रूरत वैसा चाल-चेहरा-चरित्र अपनाने के हामी होते हैं। क्योंकि सभी फ़ासीवादी अवसरवादी होते हैं और अपने तात्कालिक राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

ये संघी फ़ासीवादियों की आम कार्यपद्धति रही है। इन तौर-तरीक़ों में से अधिकांश संघियों ने अपने जर्मन और इतालवी पिताओं से ही सीखा है। इन कार्यपद्धतियों के इस्तेमाल के ज़रिये फ़ासीवाद ने भारतीय समाज और जनमानस में जड़ें जमानी शुरू कीं।

आज़ादी के पहले 1890 के दशक और 1900 के दशक में भी हिन्दू और इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव पैदा हुए थे। लेकिन उस दौर में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा किये गये प्रयासों के चलते ये तनाव ज़्यादा तीव्र नहीं हो सके। 1910 के दशक में भी ऐसे तनाव पैदा हुए थे लेकिन 1916 के लखनऊ समझौते और ख़िलाफ़त आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के मिलने से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सत्ता को देखते थे। इस दौरान भी हिन्दू महासभा नामक एक हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन मौजूद था। लेकिन राष्ट्रवादी आन्दोलन द्वारा बनी साम्प्रदायिक एकता असहयोग आन्दोलन के पहले तक पूरी तरह टूट नहीं सकी, हालाँकि उसमें दरारें आनी शुरू हो गयी थीं। असहयोग आन्दोलन के अचानक वापस लिये जाने के साथ यह एकता टूटनी शुरू हो गयी। यही समय था जब देश में तमाम हिस्सों में हिन्दू पुनरुत्थानवादियों का उभार हो रहा था। सावरकर बन्धुओं का समय यही था। लगभग यही समय था जब बंकिम चन्द्र का उपन्यास 'आनन्दमठ' प्रकाशित हुआ और राष्ट्रवाद के स्वरूप को लेकर एक पूरी बहस देश-भर में चल पड़ी। इसमें एक धारा कांग्रेस के राष्ट्रवाद की थी जो पूँजीपति वर्ग के हितों के नेतृत्व में आम जनता को साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लेने की बात करता था। यह समझौतापरस्त था। यह सेक्युलर तो था मगर इसका सेक्युलरिज़्म स्वयं हिन्दू पुनरुत्थानवाद की ओर झुकाव रखता था। जो कांग्रेसी नेता पुनरुत्थानवादी रुझान नहीं रखते थे, उनका सेक्युलरिज़्म पुंसत्वहीन था और कभी साम्प्रदायिक कट्टरता के ख़िलाफ़ लड़ नहीं सकता था। दूसरी अवस्थिति साम्राज्यवाद-विरोधी थी जो कम्युनिस्टों ने अपनायी। उन्होंने लगातार ईमानदारी से जनता को एकजुट करते हुए संघर्ष किया, लेकिन तमाम रणनीतिक और कूटनीतिक मसलों पर साफ़ न हो पाने के कारण पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान उनसे तमाम ग़लतियाँ हुई; जिसके कारण वे कभी भी आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथ में नहीं ले सके। और तीसरा पक्ष था हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों का जिन्होंने अपनी फ़ासीवादी विचारधारा को हिन्दू राष्ट्रवाद के चोगे में पेश किया। वे कितने राष्ट्रवादी थे यह तो हम देख ही चुके हैं। उनका असली प्रोजेक्ट फ़ासीवाद का था, जिसे राष्ट्रवाद के चोगे में छिपाया गया था।

1925 में आरएसएस की स्थापना हुई। इस समय तक कांग्रेसी राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक एकता को कायम रखने की इच्छा और इरादा दोनों ही खोने लग गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और उन्हें आपस में लड़ाने का शुरू से ही हर सम्भव प्रयास किया। कई इतिहासकार तो यहाँ तक मानते हैं कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता अंग्रेज़ों की ही पैदा की हुई चीज़ है। अंग्रेज़ों के आने से पहले किसी साम्प्रदायिक दंगे का कहीं कोई हवाला नहीं मिलता है। यह पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद और अंग्रेज़ों के प्रयास के संगम से पैदा हुई थी। बंगाल का विभाजन करने के पीछे अंग्रेज़ों का सबसे बड़ा मक़सद यही था। कहीं वे हिन्दू फ़ासीवादियों का साथ देते तो कहीं इस्लामी कट्टरपन्थियों का। जनगणना का भी अंग्रेज़ों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए बख़ूबी इस्तेमाल किया। कम्युनिस्टों ने इन प्रयासों का प्रतिरोध किया, लेकिन फ़ासीवाद से लड़ने की कोई सुसंगत रणनीति न होने के कारण यह प्रतिरोध सफल न हो पाया।

साम्प्रदायिकता का कारगर विरोध और ध्वंस न होने का नतीजा यह था कि 1925 में संघ की स्थापना के 15 वर्ष बीतते-बीतते उसकी सदस्यता क़रीब एक लाख तक पहुँच चुकी थी। उस समय तक संघ एक हिन्दू पुनरुत्थानवादी और कट्टरपन्थी अवस्थिति को अपनाता और उसका प्रचार करता था। उसके निशाने पर मुसलमान प्रमुख तौर पर थे। औपनिवेशिक सत्ता का विरोध करना संघ ने कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा और हमेशा अंग्रेज़ों का वफ़ादार बना रहा। लेकिन हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करना वह शुरू कर चुका था। उसके प्रचार में प्राचीन भारत के "हिन्दू" गौरव का गुणगान होता था। अभी फ़ासीवादी विचारधारा को लागू करने में संघ स्वयं प्रशिक्षित हो रहा था। 1930 के दशक के अन्त तक गोलवलकर के नेतृत्व में संघ आधुनिक फ़ासीवादी विचारधारा और कार्यप्रणाली को भारतीय सन्दर्भों में लागू करने की शुरुआत कर चुका था। शाखाओं का विराट ताना-बाना देश के तमाम हिस्सों में फैलना शुरू हो चुका था। आज़ादी के आन्दोलन में अपनी शर्मनाक भूमिका को संघ ने आज़ादी के बाद अपने झूठे प्रचारों से ढँकना शुरू किया। यह काम संघ को आज तक करना पड़ता है, क्योंकि संघ के नेताओं की ग़द्दारी के दस्तावेज़ी प्रमाण बड़े पैमाने पर मौजूद हैं, जैसे कि माफ़ीनामे, मुख़बिरी, वफ़ादारी के वायदे, आदि, संघी फ़ासीवादियों ने अंग्रेज़ों से किये।

आज़ादी मिलने के बाद सत्ता कांग्रेस के हाथ में आयी और नेहरू प्रधानमन्त्री बने। गोलवलकर इस पर काफ़ी हताश हुए और उन्होंने इसे मुसलमानों के हाथों से मिली हार माना। इसके बाद संघ ने अपने तमाम संगठनों की स्थापना शुरू की जिनमें विश्व हिन्दू परिषद प्रमुख था। बाद में बजरंग दल, वनवासी कल्याण परिषद, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, दुर्गा वाहिनी, इत्यादि संगठनों की भी स्थापना की गयी। इन सभी संगठनों के ज़रिये संघ ने देश के कोने-कोने में और हर सामाजिक श्रेणी में अपने पाँव पसारने शुरू किये। संघ 1980 के आते-आते देश का सबसे बड़ा संगठन बन चुका था। भाजपा सत्ता में आये या न आये पूँजीवादी व्यवस्था के रहते संघी फ़ासीवादी हमेशा एक ख़तरे के तौर पर मौजूद रहेंगे। एक अर्थशास्त्री माइकल कालेकी ने सत्ता से बाहर फ़ासीवाद को ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की संज्ञा दी थी। भारत में यह रूपक हूबहू लागू होता है। अगर यह कुत्ता ज़ंजीर से न बँधा रहे और इसके हाथ में पूरी सत्ता हो तो वह क्या कर सकता है, यह जर्मनी और इटली में हम देख चुके हैं। लेकिन ज़ंजीर से बँधे होने की चिड़चिड़ाहट में भी यह कुत्ता बहुत से कुकृत्य कर सकता है, यह बात भारत के इतिहास से साबित होती है।

भारत में पिछले 4 दशकों में संघी फ़ासीवाद के अभूतपूर्व विस्तार के क्या कारण थे? भारत में फ़ासीवाद की ज़मीन क्या थी? कौन से वर्ग फ़ासीवाद के सामाजिक आधार बने? यह समझना फ़ासीवाद से मुकाबले की रणनीति बनाने में सबसे ज़्यादा अहमियत रखता है।

(बिगुल पुस्तिका 'फासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें' का अंश)

दो दाग़िस्तानी क़िस्से

सच और साहस

● रसूल हमज़ातोव

सच और झूठ का झगड़ा

अवार लोग सुनाते हैं। युग-युगों से सच और झूठ एक-दूसरे के साथ-साथ चल रहे हैं। युग-युगों से उनके बीच यह बहस चल रही है कि उनमें से किसकी अधिक ज़रूरत है, कौन अधिक उपयोगी और शक्तिशाली है। झूठ कहता है कि मैं, और सच कहता है कि मैं। इस बहस का कभी अन्त नहीं होता। एक दिन उन्होंने दुनिया में जाकर लोगों से पूछने का फ़ैसला किया। झूठ तंग और टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों पर आगे-आगे भाग चला, वह हर सेंध में झाँकता, हर सूराख में सूँघा-साँघी करता और हर गली में मुड़ता। मगर सच गर्व से गर्दन ऊँची उठाये सिर्फ़ सीधे, चौड़े रास्तों पर ही जाता। झूठ लगातार हँसता था, पर सच सोच में डूबा हुआ और उदास-उदास था।

उन दोनों ने बहुत-से रास्ते, नगर और गाँव तय किये, वे बादशाहों, कवियों, खानों, न्यायाधीशों, व्यापारियों, ज्योतिषियों और साधारण लोगों के पास भी गये। जहाँ झूठ पहुँचता, वहाँ लोग इतमीनान और आज़ादी महसूस करते। वे हँसते हुए एक-दूसरे की आँखों में देखते, यद्यपि इसी वक़्त एक-दूसरे को धोखा देते होते और उन्हें यह भी मालूम होता कि वे ऐसा कर रहे हैं। मगर फिर भी वे बेफ़िक्र और मस्त थे तथा उन्हें एक-दूसरे को धोखा देते और झूठ बोलते हुए ज़रा भी शर्म नहीं आती थी।

जब सच सामने आया, तो लोग उदास हो गये, उन्हें एक-दूसरे से नज़रें मिलाते हुए झेंप होने लगी, उनकी नज़रें झुक गयीं। लोगों ने (सच के नाम पर) खंजर निकाल लिये, पीड़ित पीड़कों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, गाहक व्यापारियों पर, साधारण लोग खानों (जागीरदारों) पर और ख़ान शाहों पर झपटे, पति ने पत्नी और उसके प्रेमी की हत्या कर डाली। ख़ून बहने लगा। इसलिए अधिकतर लोगों ने झूठ से कहा –

"तुम हमें छोड़कर न जाओ! तुम हमारे सबसे अच्छे दोस्त हो। तुम्हारे साथ जीना बड़ा सीधा-सादा और आसान मामला है! और सच, तुम तो हमारे लिए सिर्फ़ परेशानी ही लाते हो। तुम्हारे आने पर हमें सोचना पड़ता है, हर चीज़ को दिल से महसूस करना, घुलना और संघर्ष करना होता है। तुम्हारी वजह से क्या कम जवान योद्धा, कवि और सूरमा मर चुके हैं?"

अब बोलो, "झूठ ने सच से कहा, " देख लिया न कि मेरी अधिक आवश्यकता है और मैं ही अधिक उपयोगी हूँ। कितने घरों का हमने चक्कर लगाया है और सभी जगह तुम्हारा नहीं, मेरा स्वागत हुआ है।"

"हाँ, हम बहुत-सी आबाद जगहों पर तो हो आये। आओ, अब चोटियों पर चलें! चलकर निर्मल जल के ठण्डे चश्मों, ऊँचे चरागाहों में खिलने वाले फूलों, सदा चमकने वाली बेदाग़ सफ़ेद बर्फ़ से पूछें।

"शिखरों पर हज़ारों बरसों का जीवन है। वहाँ नायकों, वीरों, कवियों, बुद्धिमानों और सन्त-साधुओं के अमर और न्यायपूर्ण कृत्य, उनके विचार, गीत और अनुदेश जीवित रहते हैं। चोटियों पर वह रहता है जो अमर है और पृथ्वी की तुच्छ चिन्ताओं से मुक्त है।"

"नहीं, वहाँ नहीं जाऊँगा," झूठ ने जवाब दिया।

"तो तुम क्या ऊँचाई से डरते हो? सिर्फ़ कौवे ही निचाई पर घोंसले बनाते हैं। उक़ाब तो सबसे ऊँचे पहाड़ों के ऊपर उड़ान भरते हैं। क्या तुम उक़ाब के बजाय कौवा होना ज्यादा बेहतर समझते हो? हाँ, मुझे मालूम है कि तुम डरते हो। तुम तो हो ही बुज़दिल! तुम तो शादी की मेज़ पर जहाँ शराब की नदी बहती होती है, बहसना पसन्द करते हो, मगर बाहर अहाते में जाते हुए डरते हो, जहाँ जामों की नहीं, खंजरों की खनक होती है।"

"नहीं, मैं तुम्हारी ऊँचाइयों से नहीं डरता। मगर में वहाँ करूँगा ही क्या, क्योंकि वहाँ तो लोग ही नहीं हैं। मेरा तो वहीं बोल-बाला है, जहाँ लोग रहते हैं। मैं तो उन्हीं पर राज करता हूँ। वे सब मेरी प्रजा हैं। कुछ साहसी ही मेरा विरोध करने की हिम्मत करते हैं और तुम्हारे पथ पर, सच्चाई के पथ पर चलते हैं। मगर ऐसे लोग तो इने-गिने हैं।"

"हां, इने-गिने हैं। मगर इसीलिए इन लोगों को युग-नायक माना जाता है और कवि अपने सर्वश्रेष्ठ गीतों में उनका स्तुति-गान करते हैं।"

अकेले कवि का क़िस्सा

यह क़िस्सा मुझे अबू तालिब ने सुनाया।

किसी ख़ान की रियासत में बहुत-से कवि रहते थे। वे गाँव-गाँव घूमते और अपने गीत गाते। उनमें से कोई वायलिन बजाता, कोई खंजड़ी, कोई चोंगूर और कोई ज़ुरना। ख़ान को जब अपने काम-काजों और बीवियों से फ़ुरसत मिलती, तो वह शौक़ से उनके गीत सुनता।

एक दिन उसने एक ऐसा गीत सुना, जिसमें ख़ान की क्रूरता, अन्याय और लालच का बखान किया गया था। ख़ान आग-बबूला हो उठा। उसने हुक़्म दिया कि ऐसा विद्रोह भरा गीत रचने वाले कवि को पकड़कर उसके महल में लाया जाये। गीतकार का पता नहीं लग सका। तब वज़ीरों और नौकरों-चाकरों को सभी कवियों को पकड़ लाने का आदेश दिया गया। ख़ान के टुकड़खोर शिकारी कुत्तों की तरह सभी गाँवों, रास्तों, पहाड़ी पगडण्डियों और सुनसान दर्रों में जा पहुँचे। उन्होंने सभी गीत रचने और गाने वालों को पकड़ लिया और महल की काल-कोठरियों में लाकर बन्द कर दिया। सुबह को ख़ान सभी बन्दी कवियों के पास जाकर बोला –

"अब तुममें से हरेक मुझे एक गीत गाकर सुनाये।"

सभी कवि बारी-बारी से ख़ान की समझदारी, उसके उदार दिल, उसकी सुन्दर बीवियों, उसकी ताक़त , उसकी बड़ाई और ख्याति के गीत गाने लगे। उन्होंने यह गाया कि पृथ्वी पर ऐसा महान और न्यायपूर्ण ख़ान कभी पैदा ही नहीं हुआ था।

ख़ान एक के बाद एक कवि को छोड़ने का आदेश देता गया। तीन कवि रह गये, जिन्होंने कुछ भी नहीं गाया। उन उन तीनों को फिर से कोठरियों में बन्द कर दिया गया और सभी ने यह सोचा कि ख़ान उनके बारे में भूल गया है। | मगर तीन महीने बाद ख़ान फिर से इन बन्दी कवियों के पास आया।

"तो अब तुममें से हरेक मुझे कोई गीत सुनाये।"

उन तीनों कवियों में से एक फ़ौरन ख़ान, उसकी समझदारी, उदार दिल, सुन्दर बीवियों, उसकी बड़ाई और ख्याति के बारे में गाने लगा। यह भी गाया कि पृथ्वी पर कभी कोई ऐसा महान ख़ान नहीं हुआ।

इस कवि को भी छोड़ दिया गया । उन दो को जो कुछ भी गाने को तैयार नहीं हुए, मैदान में पहले से तैयार किये गये अलाव के पास ले जाया गया।

"अभी तुम्हें आग की नज़र कर दिया जायेगा," ख़ान ने कहा। "आख़िरी बार तुमसे यह कहता हूँ कि अपना कोई गीत सुनाओ।"

उन दो में से एक की हिम्मत टूट गयी और उसने ख़ान, उसकी अक्लमन्दी, उदार दिल, सुन्दर बीवियों, उसकी ताक़त, बड़ाई और ख्याति के बारे में गीत गाना शुरू कर दिया। उसने गाया कि दुनिया में ऐसा महान और न्यायपूर्ण ख़ान कभी नहीं हुआ।

इस कवि को भी छोड़ दिया गया। बस, एक वही ज़िद्दी बाक़ी रह गया, जो कुछ भी गाना नहीं चाहता था ।

"उसे खम्भे के साथ बाँधकर आग जला दो!" ख़ान ने हुक्म दिया।

खम्भे के साथ बँधा हुआ कवि अचानक ख़ान की क्रूरता, अन्याय और लालच के बारे में वही गीत गाने लगा, जिससे यह सारा मामला शुरू हुआ था।

जल्दी से इसे खोलकर आग से नीचे उतारो!" ख़ान चिल्ला उठा! "मैं अपने मुल्क के अकेले असली शायर से हाथ नहीं धोना चाहता!!"

"ऐसे समझदार और नेकदिल ख़ान तो शायद ही कहीं होंगे," अबूतालिब ने यह क़िस्सा ख़त्म करते हुए कहा, "मगर ऐसे कवि भी बहुत नहीं होंगे।"

हत्यारों की शिनाख़्त

तो उन्होंने चुपचाप उस पर हमला किया
और उसे खींच ले गये;
इतना मुश्किल था उनका षडयन्त्र
कि सरकार ने दिन-दहाड़े
क़ानून और व्यवस्था के जिन प्रहरियों
के हाथ उसे सौंपा था
उनको पता तक नहीं चला।
और उन लोगों ने भय से काँपते हुए
उस चिथड़े-चिथड़े हुई लाश को देखा
तो सिर्फ़ यही कह सके-
"हत्यारे पता नहीं कौन थे?"

तो इसी तरह, मेरा यह देश
चुपचाप खींचा जा रहा है
नैतिक मौत की तरफ़
हत्या की तरफ़,
नक्कारे और तुरही बजाकर नहीं,
बल्कि यह हत्या की जा रही है
कुछ अँधेरे और कुछ उजाले में–
लुके-छिपे।
लेकिन जब लाश सामने नज़र आयेगी
तब इतिहास यह नहीं कह सकेगा कि
"हत्यारे पता नहीं कौन थे?"

– लेस्ली पिंकने हिल
(अफ़्रीकी-अमेरिकी कवि)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

क्या देश अमीरों के टैक्स के पैसे से चलता है? नहीं!

- नितेश शुक्ला

अक्सर उच्च मध्यम वर्ग या उच्च वर्ग द्वारा यह कहा जाता है कि देश उनके पैसे से चल रहा है। वही लोग हैं जो सरकार को टैक्स देते हैं जिससे सारे काम होते हैं, ग़रीब लोग तो केवल सब्सिडी, मुफ़्त सुविधाओं आदि के रूप में उन टैक्स के पैसों को उड़ाते हैं। इस प्रकार ग़रीब आम जनता देश पर बोझ होती है। दरअसल यह एक बड़ा झूठ है जो काफ़ी व्यापक रूप से लोगों में फैला हुआ है। अगर आँकड़ों के हिसाब से देखा जाये तो कहानी इसकी उल्टी ही है। सरकार जो टैक्स वसूलती है उसका बड़ा हिस्सा इसी ग़रीब आम जनता की जेबों से आता है। आइए देखते हैं कैसे।

आमतौर पर उच्च मध्यवर्ग का यह तर्क रहता है कि चूँकि टैक्स ढाई लाख से ऊपर की आमदनी वाले व्यक्ति पर ही लगता है, इसलिए केवल वही लोग कर (टैक्स) देते हैं जिनकी सलाना आय ढाई लाख से ज़्यादा है। पर जिस कर की वो बात कर रहे हैं वो आमदनी के ऊपर कर है। आयकर ही एकमात्र सरकार की आय का स्रोत नहीं है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि आयकर से सरकार को बहुत कम आमदनी होती है।

सरकार दो तरीक़े के टैक्स वसूलती है -

1. प्रत्यक्ष कर
2. अप्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष कर में आयकर और कॉरपोरेशन टैक्स या निगम कर आते हैं जबकि अप्रत्यक्ष कर में सेल्स टैक्स, सर्विस टैक्स, राज्यों का वैट टैक्स (इनको मिलाकर अब वस्तु और सेवा कर बना दिया गया है), कस्टम ड्यूटी, एक्साइज ड्यूटी, रोड टैक्स, मनोरंजन कर, स्टाम्प ड्यूटी आदि टैक्स आते हैं।

सरकार को इन सबसे आमदनी होती है, जिससे सरकार बजट बनाती है। मध्यम और उच्च वर्ग में फैली ये ग़लत धारणा कि उनके टैक्स के पैसों से देश चलता है, हर साल की कर वसूली के आँकड़ों को देखते ही धाराशाही हो जाती है।

वित्त वर्ष 2017-18 की बात करें तो कुल कर उगाही 19,46,119 करोड़ रुपये थी। इसमें कॉरपोरेशन कर 5,63,744 करोड़ रुपये था और आयकर 4,41,255 करोड़ रुपये था। अगर कुल बजट के प्रतिशत के हिसाब से देखें तो आयकर वसूली कुल बजट का मात्र 22% हुई थी। यही वह 22% है जिसके लिए मध्यवर्ग और उच्चवर्ग यह सोचते हैं कि वही देश चला रहे हैं, बाक़ी तो बोझ हैं। दूसरी तरफ़ अगर देखा जाये तो इसी दौरान अप्रत्यक्ष करों से 9,41,119 करोड़ रुपये की आय हुई थी। जिससे सरकार को 2017-18 में कुल राजस्व की 48% प्राप्ति हुई थी।

पर यह पूरी तस्वीर नहीं है। दरअसल ऊपर जिस कॉरपोरेशन कर (जो कि कुल राजस्व का 29% है) की बात की गयी है, वो भी जनता को चुकाना पड़ता है। कॉरपोरेशन टैक्स किसी कम्पनी के कुल मुनाफ़े पर लगने वाला कर है। भारत में यह 30% की दर से लगता है तथा इस पर सरचार्ज व सेस भी लगता है। कम्पनी द्वारा चुकाया गया कर वास्तव में किसके द्वारा चुकाया जाता है, क्योंकि कम्पनी एक व्यक्ति नहीं है? वास्तव में इसका भुगतान भी उस ग्राहकों को करना पड़ता है, जो वो उत्पाद ख़रीदते हैं। माल के पैदा होने की प्रक्रिया में उसके मूल्य में वृद्धि श्रम के द्वारा पैदा होती है, जो देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। इस दाम में हुई वृद्धि का बहुत छोटा हिस्सा मज़दूर को मज़दूरी के रूप में मिलता है, बाक़ी अलग-अलग स्तरों पर फ़ैक्टरी मालिक, थोक विक्रेता, ख़ुदरा विक्रेताओं आदि के बीच मुनाफ़े के रूप में बँटता है। इस प्रकार मुनाफ़े पर दिया गया कर भी दरअसल मज़दूर द्वारा पैदा किये गये मूल्य पर प्राप्त मुनाफ़े पर होता है। साथ ही मुनाफ़ा वसूली (प्रॉफ़िट रियलाइज़ेशन) उत्पाद के बिकने की प्रक्रिया में ही होता है। अगर कोई 100 रुपये का सामान ख़रीदता है जिसकी मज़दूरी सहित लागत 60 रुपये है और बाक़ी 40 रुपये अलग-अलग स्तरों पर मुनाफ़े के रूप में बँटते हैं तो उस मुनाफ़े पर अलग-अलग स्तरों पर दिया गया टैक्स ग्राहक द्वारा सामान के बदले दिये गये पैसे (100 रु.) से ही दिये जाते हैं। क्योंकि मुनाफ़ा मूल्य वृद्धि (वैल्यू एडिशन) और माल विक्रय (वैल्यू रियलाइज़ेशन) की चक्रीय प्रक्रिया में ही पैदा होता है, जबकि फ़ैक्टरी मालिक, थोक विक्रेता, ख़ुदरा विक्रेता आदि इस प्रक्रिया में बस बीच के माध्यम के रूप में काम करते हैं। अगर माल पैदा हो पर उसको ग्राहक न ख़रीदे तो उस पर कुछ मुनाफ़ा नहीं होगा, फिर मुनाफ़े पर कर देने का सवाल ही पैदा नहीं। इस प्रकार कॉरपोरेशन कर अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता से ही वसूला जाता है। इसको भी अगर जनता द्वारा चुकाये गये अप्रत्यक्ष करों में जोड़ दिया जाये तो आम जनता ही कुल राजस्व का 78% भाग चुकाती है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि अप्रत्यक्ष कर भी तो मध्यवर्ग और उच्च वर्ग द्वारा ही ज़्यादा दिया जाता है। यह सच है कि अप्रत्यक्ष कर उन सभी को देना पड़ता है जो कोई सामान ख़रीदते हैं, सेवा का उपभोग करते हैं। लेकिन अगर हम भारत में आयकर देने वाले करदाताओं का स्लैब देखें, तो पता चलता है कि भारत में आयकर देने वाला वर्ग बहुत छोटा है। 2015-16 के अनुसार केवल 1.7% लोग आयकरदाता हैं। इसलिए निम्न मध्यवर्ग और निम्न वर्ग से ज़्यादा ख़र्च करने के बावजूद इस कुल 1.7% आबादी द्वारा अप्रत्यक्ष कर में योगदान बहुत कम है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि इस देश में एक भिखारी भी टैक्स देता है। अब एक और सवाल पूछा जा सकता है कि आख़िर एक व्यक्ति या परिवार औसतन कितना कर देता है?

इस सवाल का जवाब काफ़ी अचम्भित करने वाला है, ये एक ऐसी सच्चाई है जिस पर हमेशा पर्दा डालने को कोशिश की गयी है। अगर आप आयकर देते हैं तो आपको पता होता है कि आपने साल में कितना टैक्स दिया, पर अगर आप यह जानना चाहे कि आपने साल में कितना अप्रत्यक्ष कर दिया तो ये बहुत मुश्किल है। यहाँ हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि एक व्यक्ति कितना अप्रत्यक्ष कर देता है। फ़ेडरेशन ऑफ़ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फ़िक्की) द्वारा 2007 के एक अध्ययन के मुताबिक़ किसी उत्पाद के दाम का औसतन 35% टैक्स होता है। तबसे आज तक कई बार टैक्स बढ़ाया जा चुका है, व कई तथाकथित टैक्स सुधार भी हो चुके हैं। आज पेट्रोल उत्पादों पर 100% से भी ज़्यादा टैक्स है, बाक़ी सामानों पर भी टैक्स पहले से काफ़ी बढ़ाया जा चुका है, इसलिए ये 35% का आँकड़ा आज 40 से 45% तक पहुँच गया है। एक मोटा-मोटी गणना के लिए अगर हम आज के परिप्रेक्ष्य में ख़र्च पर औसत 30% कर की दर लेकर चले (क्योंकि कुछ ख़र्च टैक्स की सीमा से बाहर हैं व कुछ पर टैक्स कम है) तो भी चौंकाने वाली तस्वीर सामने आती है।

अगर एक व्यक्ति की आय 5 लाख रुपये सालाना है जिसमें वो 4 लाख परिवार के वहन में ख़र्च कर देता है बाक़ी कुछ पैसे बचत करता है। इस हिसाब से उसको आयकर कितना देना पड़ेगा?

ढाई लाख से ऊपर की आमदनी का 5% जो कि 12500 रुपये होता है। अब देखते हैं कि उसको अप्रत्यक्ष कर कितना देना पड़ता है। अगर 4 लाख रुपये सामानों और सेवा के ऊपर ख़र्च करता है तो 30% के हिसाब से उसको क़रीब 1,20,000 रुपये टैक्स अप्रत्यक्ष कर के रूप में देना पड़ेगा। इस राशि की तुलना में आयकर कुछ भी नहीं है। स्पष्ट है कि एक मध्यम आय वाले व्यक्ति को आयकर के मुक़ाबले क़रीब 10 गुना ज़्यादा अप्रत्यक्ष कर देना पड़ता है। हर साल बजट आने पर लोग यह तलाशते हैं कि आयकर की दर कम हुई कि नहीं, जबकि सबसे बड़ा कर का बोझ अप्रत्यक्ष कर का होता है।

एक व्यक्ति जिसकी आमदनी ढाई लाख तक है उसको आयकर नहीं देना पड़ता, पर उसको क़रीब 75,000 रुपये अप्रत्यक्ष कर देना होता है। इस देश का एक मज़दूर परिवार जिसमें दो लोग 10 हज़ार रुपये की मज़दूरी करते हैं और साल में 2,40,000 रुपये कमाते हैं जो सारा उनके ऊपर व्यय होता है, ऐसे में वो 72,000 रुपये टैक्स के रूप में सरकार को देते हैं। यह बात साफ़ है कि अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष कर से ज़्यादा चिन्ताजनक है। इसका एक कारण और है। अप्रत्यक्ष कर की दर सबके लिए समान रहती है, जिससे एक मज़दूर भी उसी दर से टैक्स दे रहा होता है, जिस दर से उसका अरबपति मालिक। इसको समझने के लिए भी एक उदाहरण ले सकते हैं। एक मज़दूर परिवार की आय अगर ढाई लाख सालाना है और ख़र्च 2 लाख है तो उसको 60 हज़ार अप्रत्यक्ष कर देना होता है। वहीं अगर एक मालिक की आय 1 करोड़ रुपये सालाना है और ख़र्च 30 लाख रुपये है (आमदनी बढ़ते जाने पर बचत का हिस्सा बढ़ता जाता है) तो इस हिसाब से उसको 9 लाख अप्रत्यक्ष कर देना होता है। ये देखने में काफ़ी ज़्यादा लगता है लेकिन दोनों स्थितियों की तुलना करें तो मज़दूर परिवार अपनी कुल आय का 24% अप्रत्यक्ष कर में देता है, जबकि मालिक अपनी कुल आय का 9% अप्रत्यक्ष कर में देता है। यहाँ पर प्रत्यक्ष कर भी जोड़ा जा सकता है, लेकिन उसमें दाँव-पेंच की काफ़ी गुंजाइश होती है, अपनी आय कम दिखाना, फ़र्ज़ी डोनेशन, ऋण दिखाना आदि तरीक़ों का व्यापक इस्तेमाल करके मालिक अपनी आय का काफ़ी हिस्सा छुपा लेता है। यही कारण है कि भारत में आयकरदाताओं की संख्या इतनी कम है। वास्तव में मालिक इन तिकड़मों का इस्तेमाल कर 10-15% के आसपास ही आयकर देते हैं। इसको भी ऊपर की संख्या में जोड़ दें तो भी मालिक अपनी आय का कुल 20-25% ही टैक्स देते हैं। इस प्रकार एक मज़दूर और एक अरबपति दोनों को अपनी आय का लगभग समान हिस्सा कर के रूप में देना पड़ता है, जबकि मज़दूर परिवार की आय ही बहुत कम होती है। स्पष्ट है कि यह कराधान प्रणाली आम जनता/मज़दूरों के लिए काफ़ी अन्यायपूर्ण है।

ऊपर के आँकड़ों से ये बात साफ़ हो जाती है कि देश के कुल राजस्व का क़रीब 80% देश की आम जनता की जेबों से आता है। ऐसे में उच्च मध्यम वर्ग व उच्च वर्ग का ये दम्भ भरना कि देश को वही लोग चला रहे हैं - बिल्कुल बेबुनियाद और बेवक़ूफ़ी भरा है। इस देश की करोड़ों आम मेहनतकश जनता के दम पर यह देश चलता है। उनकी मेहनत के दम पर भी और उनके पैसे के दम पर भी। वास्तव में ये मालिक लोग ही हैं जो देश के ऊपर बोझ हैं, जो ख़ुद कुछ भी पैदा नहीं करते और आम जनता की मेहनत को निचोड़कर अन्धाधुन्ध सम्पत्ति बटोरते हैं।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006